प्रकाशंक : विद्या मन्दिर प्रकाशनं र राजनांदगाँव (मर्क प्रकार

मृल्य : ३.२५ (तीन रुपये पचीसःनये पैसे मात्र)

सुद्रकः श्री विष्णु यंत्रालयः, पटना–४

विषय-सूची

	विषय	ष्टठ-संख्या
₹.	देश-दर्शन	ધ્
₹.	भारतीय इतिहास और संस्कृति का विकास	38
₹.	भारतीय संस्कृति और कला	48
٧.	भारतीय संस्कृति और उत्सव	७१
પ્.	भारतीय संस्कृति और विज्ञान का विकास	⊏३
ξ.	भारतीय संस्कृति और धर्म	33
७.	भारतीय संस्कृति और साहित्य में मानवतावाद	११८
۵.	विश्व के इतिहास में भारत	१२५

,सी दोनों

ुश दो।

र में कितने ही नगर, पहाड़
के साथ अपनी राजधानी चतरा।
तुरन्त पाँच लाख रुपये दिल्लाये और
। जब वह चाहता था तभी चस पर
क्या करता था।

सुद्रकः श्री विष्णु यंत्रालयं,ं पटना–४

देश-दर्शन

कहते हैं कि एक समय किसी देश का राजा तीर्थ-यात्रा करने के लिए निकला। कितने ही नगर और तीर्थ-स्थान देखता हुआ वह हरिद्वार पहुँचा। वहाँ एक संन्यासी से उसकी मेंट हुई।

संन्यासी ने कहा—महाराज, सुमें एक यश करना है। उसके लिए सुमें पाँच लाख रुपयों की जरूरत है। अब सुमें कोई दूसरा काम करना नहीं है। अगर आप सुमें पाँच लाख रुपये दें तो मैं आप को ऐसी अद्भुत चीज दूँगा जिसे पाकर आप खून प्रसन्न होंगे।

राजा ने कहा-देखूँ, वह कीन-सी अद्भुत चीज है।

संन्यासी ने उसको एक मृग-चर्म दिखलाया । वह मृग-चर्म इतना बड़ा था कि उस पर पाँच आदमी आराम से बैठ सकते थे।

राजा ने मृग-चर्म को देखकर पूछा-इसका गुण क्या है ?

संन्यासी ने कहा—आप इस पर वैठ जाइये और जहाँ आप चाहेंगे तुरन्त वात-की-बात में पहुँच जायेंगे। गिरने का डर नहीं है। आँघी तूफान का भय नहीं है। यह मृग-चर्म आपको आराम से सब जगह ले जा सकता है।

राजा को यह सुनकर बड़ा अचरज हुआ। वह और संन्यासी दोनों सस पर वैठ गये।

राजा ने कहा-मुक्ते मेरी राजधानी पहुँचा दो।

तुरन्त ही मृग-चर्म उड़ा और च्राणमर में कितने ही नगर, पहाड़ और निदयों लांधकर राजा संन्यासी के साथ अपनी राजधानी उतरा। राजा ने खजाने से संन्यासी को तुरन्त पाँच लाख रूपये दिलवाये और मृगचर्म को अपने पास रख लिया। जब वह चाहता था तभी उस पर बैठकर देश-विदेशों की यात्रा किया करता था।

١

अगर तुम्हारे पास ऐसा चर्म हो तो क्या तुम्हें भिन्न-भिन्न देश देखने की रच्छा न होगी ? आओ, आज मैं तुम्हें अपने साथ अपने देश भारतवर्ष का दर्शन करा देता हूँ। इड्डर्ने की वात नहीं है। तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। तुम खूब आराम से अपने देश की सारी वार्त जान लोगे । इसके साथ तुम्हें अपने देश की सारी वार्त जान लोगे । इसके साथ तुम्हें अपने देश के हितहास की मी कितनी ही बार्त जात हो जावें गीही जाव स्थान के प्राप्त कि प्राप्त कि हितहास की प्राप्त कितनी हों आव का तो लोग मैं यह कम्म न समात दुम्हारे लिए यह मुन्न विद्या हों।

अच्छा ता लाक मुन्द्रह मुगु चम्हा हु हु लाष्ट्र यहा निक्छाता हुने वृतलाओ यह कीन देश है जिसके तीन ता को रू समुद्र है अपि एक अणी चली गई है कि एक हिए एक जोर उत्तर में पहाड़ी की एक अणी चली गई है कि एक हाए हिए हिए एक यही हम लोगों का देश भारत अपि हम राजा के का रूप इसका नाम आर्यावर्त है कि भारत नामक एक मिस्ट्रिंग देशों से भारत वर्ष को हिमालय, मारतवर्ष पड़ा । एशिया हो हे दसरे देशों से भारतवर्ष को हिमालय, हिन्द क्श्र और सुत्रेमान की पर्वत के लियों ने अण्या कर रव्हा है। भारतवर्ष के उत्तर में यह प्रवृत्त है और दोनों ओर हिन्द महासागर है। भारतवर्ष के उत्तर में यह प्रवृत्त है और दोनों ओर हिन्द महासागर है।

नदी और पहाड़ों, से देशों की सीमा निश्चित होती है। भारत वर्ष को बिन्ध्याचल और सतपुड़ा ने दी खण्ड कर दिये हैं — उत्तर भारत और दिल्ल भारत । पश्चिमीय घाट, पूर्वीय घाट, अरावली और नीलगिरि ने भी उसके स्वामाबिक खण्ड कर दिये हैं। इसी प्रकार सिन्ध गंगा, यसना, ब्रह्मपुत्र नमेदा, तासी, महानदी, गोदाबरी, कृष्णा और कावेरी खादि नदियों ने भी इन प्रदेशों को अलग कर रक्खा है। फिर भी भारतवर्ष एक ही देश है। उसकी अपनी एक संस्कृति और अपनी एक सम्यता है।

स्रोर अपनी एक सभ्यता है। सबसे पहले हम दिल्ली का दर्शन करें। वहीं भारतीय संस्कृति स्रोर सभ्यता का केन्द्र है।

बार सभ्यता का केन्द्र है।

दिल्ली के सम्बन्ध में चन्द ने लिखा है—यह दिल्लीश्वर का
सुन्दर स्थान है। यहाँ पापों को दूर करने वाली यसना जी वह रही
है। यह वही स्थान है जिसे महाराज धृतराष्ट्र ने धर्म-पुत्र को दिया

था। यह राज्य श्री से युक्त है। पहले इसका नाम इन्द्रमण आया इसी के लिए पाण्डनों ने युद्ध किया था। चारों मागों में पतिल शिरोमिश के भी पापों को दूर करनेवाली रिवनन्दिनी विराजमान है। सभी सुखी हैं, सभी कृतविद्य हैं। पुर आमोद-प्रमोदों से पूर्ण है। दिल्ली का यह वर्णन आधुनिक काल में भी उपयुक्त है। यह सच है कि बौद्ध-काल में दिल्ली का वह महत्त्व नहीं था। उस समय विहार के साथ पाटलिपुत्र का महत्त्व बढ़ गया था। अप्रेजों के आधिपत्य काल में भी कितने हो वर्षों तक कलकत्ता का महत्त्व था परन्त अब फिर दिल्ली ने अपना पूर्व गौरव प्राप्त कर लिया है।

चन्द उस युग में हुए हैं जब देश में चात्र धर्म चैतन्य था। उन दिनों च्रियों में शोर्य था, साहस था, विश्वास था, सरलता थी। उनमें द्रदर्शिता नहीं थी। वे युद्ध में प्राण देना जानते थे पर छल से विजय प्राप्त कर लेना उन्हें अमीष्ट न था। आत्म-मर्यादा, स्वाधीनता और कुल-गौरव की रच्चा करना उनका एक मात्र धर्म था। विशाल, चिरस्थायी साम्राज्य स्थापित करने की उन्होंने कभी चेष्टा ही नहीं की। युद्ध की उनका उपवसाय था। युद्ध-स्थल ही उनके लिए कीड़ा-स्थल था। सभी समय वे युद्ध के लिए प्रस्तुत रहते थे। ऐसे लोगों के लिए जो काव्य लिखा जायगा, उसमें रस का प्रवाह नहीं बहेगा और न शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का अपूर्व विन्यास ही दृष्टिगोचर होगा। उसके छन्दों में होगी चिप्रगति, शब्दों में भेरी-ख और भावों में रणोल्लास। किव को कल्पना के लिए अवकाश नहीं है। अपने त्रादर्श वीर का चित्र अंकित करने के लिए उन्हें उपमाओं और उत्येचाओं की खोज करनी नहीं पड़ी।

भारतवर्ष में कोई छ: सो वर्ष तक हिन्द बौर मुसलमान लड़ते रहे। दिल्ली के महाराज पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को हराया, पर दूसरी बार राजपूतों में फूट होने के कारण वे स्वयं लड़ाई में मारे गये बौर भारत पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हुआ। राजपूत जत्तर भारत को छोड़कर राजपूताने में था गये और वहीं छन्होंने अपने राज्य स्थापित किये। ये राज्य अभी तक विद्यमान् हैं। जोधपुर, जयपुर, छदयपुर और वीकानेर इनमें मुख्य हैं। इनमें भी छदयपुर सर्वश्रेष्ठ था। यह मेवाड़ कहलाता है। चित्तौड़ छसकी पुरानी राजधानी है। महाराणा कुम्भ और महाराणा सांगा के नाम को कोई भी राजपूत नहीं भूलेगा।

महारानी पद्मिनी चित्तौड़ की रानी थो। कहा जाता है कि इन्हीं के सौन्दर्य पर सुग्ध होकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। जब तक एक भी राजपूत जीता रहा, तब तक सुसलमान किले के भीतर न सुस सके। अन्त में जब अलाउद्दीन ने किले में प्रवेश किया, तब उसने देखा कि वहाँ एक भी राजपूत रमणी नहीं है। अपने घर्म की रत्ता के लिए महारानी पद्मिनी के साथ सब जलकर मर गई। उदयपुर महाराणा उदयसिंह का बसाया हुआ है। महाराणा प्रतापित्त इन्हीं के पुत्र थे। सुगल सम्राट् अकबर की अधीनता सभी राजपूत राजाओं ने स्वीकार कर ली। पर महाराणा प्रतापित्त अपने मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए जीवन-भर लड़ते रहे।

भारत के इतिहास में सुगलों का शासन-काल विशेष प्रसिद्ध है। उनके समय में भारत की कीर्ति दूर-दूर देशों में फैल गई थी। यूरीप से कितने ही लोग उनका दरवार देखने के लिए आये और उनका वैभव देखकर चिकत हो गये। सुगलों का आधिपत्य सन् १५२६ से १८०३ तक रहा। वावर पहला सुगल वादशाह था। वह जैसा शूर था, वैसा ही विद्वान् था। उसने आत्म-चिरत्र में लिखा है कि सुक्ते अपना महल बनवाने के लिए ६८० शिल्पकार रखने पड़े थे। इनके सिवाय आगरा, सीकरी आदि स्थानों में १४६१ कारीगर काम करते थे। परन्तु अब वावर और हुमायूं के समय का कोई काम नहीं मिलता। वावर के वाद हुमायूं गद्दी पर बैठा। उसे ज्योतिप-शास्त्र से खूव प्रेमः

था। वह नच्चों का हिसाव करके छन्हों के अनुमार अपना दरवार किया करता था। कहते हैं कि एक बार किसी भिश्ती ने छसकी प्राण-रच्चा की। जब हुमायूं दिल्ली पहुँच गया तब छसने तीन घंटे के लिए छस भिश्ती को बादशाह बना दिया। छस भिश्ती ने अपनी मशक के गोल दुकड़े कटवाये, छन पर अपना नाम छपवाया और छनके सिक्के चलाये।

हुमार्यु के बाद उसका वेटा अकबर बादशाह हुआ। सुगलों में सबसे वड़ा बादशाह वही हुआ। संसार भर में जो बड़े-बड़े बादशाह हए हैं, उनमें अकवर का नाम लिया जाता है। अकवर था तो वड़ा बुद्धिमान पर वह पढ़ा-लिखा नहीं था। वह अपने दस्तखत भी नहीं कर सकता था। आगरे का लाल पत्थर का किला अकवर का बनवाया हुआ है। सिकन्दरे का पत्थर का काम और सिकरी के महल उसी के समय में बने। इनकी कारीगरी देखकर अभी तक लोग दांतों तले उँगली दवाते हैं। पत्थर पर वेल-बूटे, फूल-पत्ते और जाली का काम इतनी खूबसूरती के साथ किया गया है कि देखते हो बनता है। अकबर के समय में कई अच्छे-अच्छे चित्रकार थे। सप्ताह भर में जितने चित्र तैयार होते थे, उन सब की परीचा एक दिन चैठकर खुद अकवर करता था। फिर चित्रकारों को उनकी योग्यता के अनुसार पुरस्कार दिया जाता था। कभी-कभी अकबर हिन्दुओं के कपड़े-पहनता था, माथे पर तिलक लगाता था और कानों में बालियाँ पहनता था। उसकी सभा में नौ बड़े-बड़े विद्वान् थे। वह विद्वानी का खूब बादर करता था। उसके मन्त्री अबुल फजल ने लिखा है, "बादशाह दिन-रात में केवल एक वार खाते हैं। थोड़ी भृख रहने पर खाने से हाथ खींच लेते हैं, शोरे से ठंढा किया हुआ गंगाजल पीते हैं।" अकवर रात को सिर्फ छ: घटे सोता, दिन भर काम किया करता और रात को विद्वानों की एक सभा करता था। वह सबकी सलाह लेता और फिर सोच-विचार कर अपना कर्च व्य करता था।

खुक्त मिल्र हैं। त्रवहाँ थी तो स्त्री, प्रियं वह राज्य का काम अच्छी तर्ह सहाल लेती थी। प्रवह प्रसिद्ध है कि उसी ने सबसे पहले गुलाब का काम अच्छी तर्ह सहाल लेती थी। प्रवह प्रसिद्ध है कि उसी ने सबसे पहले गुलाब का का है कि जाता है कि

के समय में तीन हजार मनसबदार थे। उनके आधीन तीन लाख सेना थी। बादशाह के खजाने में अनन्त धन और रत्नों का ढिर था। उसके महल में ३६ हजार दास दासी काम करते थे। वादशाह के जाए थे। पास १२ हजार हाथी थे। उनमें ३०० सिर्फ वादशाह के लिए थे। प्रतिदिन सभा में ५०,००० हपये खर्च होते थे और राज-महल के भीतर रोज ३०,००० हपये खर्च हो जाते थे। जहाँगीर के बाद उसका बेटा शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। शाहजहाँ ने बड़े-बड़े महल बनवाये। दिल्ली नगर को उसी ने फिर से बसाया।

जहाँगीर के बाद उसका वेटा शाहजहाँ गद्दी पर वेटा । शाहजहां ने बड़े-बड़े महल बनवाये । दिल्ली नगर को उसी ने फिर से बसाया । जमुना के तीर पर उसने लाल पत्थर का किला बनवाया । यह ५० ' लाख रुपये की लागत से बीस वर्ष में तैयार हुआ । किले के पहले दरवाजे को पार कर आगे बढ़ने से तोरण द्वार मिलता था । पहले उसके उत्थर नौवत बजती थी । उसके बाद पूर्व की ओर दरवारे आम है । उसके पीछे दरवारे खास बना हुआ है । यह सफेद पत्थर का है । पहले यह चांदी से विलकुल ढका हुआ था । पानीपत की लड़ाई के पहले मराठे उसे लुटकर ले गये । यह नौ लाख रुपये की लागत से बना था । उसमें लिखा है कि यद पृथ्वी में कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं

है, वह यहीं है, यहीं है। यहीं तख्ते-ताऊस रक्खा रहता थे।।
तख्ते ताऊस के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि उसके लिए प्रकृ लाख रुपये के उत्तमोत्तम रत्न छाँटे गये। फिर कोई १४ लाख रुपये जगाकर ३॥ गज लम्बो, ६ इंच चौड़ी और ५ गज ऊँची पिटया बनाई गई। पन्ने-जड़े बारह खम्मों पर तख्त की छत खड़ी की गई। दोनों तरफ एक-एक मोर बनाया गया। उनके अंगों में अद्भुत-अद्भुत रत्न जड़े गये। चढ़ने के लिए तीन सीढ़ियाँ बनायी गईं। उन पर रत्न लगाये गये। सात वर्ष में यह तख्त तैयार हुआ। इसमें एक करोड़ रुपये खर्च हुए।

. आगरे का ताज महल जो विश्व के दर्शनीय स्थानों में एक है, इसी वादशाह ने बनवाया था।

शाहजहाँ के बाद औरंगजेब गद्दी पर बैठा था। वह वहा प्रतापी था। उसका फकीराना ठाट रहता था। आमोद-प्रमोद में उसका मन नहीं लगता था। अपने निज के कामों में उसने राज्य का एक पैसा भा व्यय नहीं किया। टोपियाँ सीकर और कुरान की नकल कर उसने अपना जीवन-निर्वाह किया। वतलाओ तो, दुनियाँ में ऐसे कितने वादशाह हुए हैं?

छ त्रपति शिवाजी औरंजेव के प्रधान शत्रु थे। हिन्दुत्व की रक्षा के लिए उन्होंने उससे लोहा लिया और दक्षिण में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। ये बड़े धीर-बीर थे। समन्त देश को उनका बड़ा अभिमान है।

सुगलों के समय में खाने-पोने की चीजें बहुत सस्ती थीं। द्ध की अधिकता थी। गरीब आदमी भी खूब द्ध पीते थे। दही खूब खाया जाता था। वर्नियर नामक एक विदेशी यात्री ने लिखा है— इस देश में नीवू का शरवत और दही से बढ़कर कोई चीज नहीं मानी जाती। सुगल वादशाह ऐश-वाग लगाते थे। एन्हें शिकार खेलने का भी शीक था। अकवर को पोलो खूब पकन्द था। जहाँगीर को कबृतर- वाजी का शौक था। शाहजहाँ स्वांग देखना खूब पसन्द करता था।
गरीव सुसाफिरों के आराम के हेतु सरायें बनवाई जाती थों। वहाँ
ठण्डे और गरम दोनों तरह के पानी का प्रवन्ध रहता था। विछोना
और भोजन दिया जाता था। जहाँगीर ने पुरानी सड़कों की मरम्मत
करवा उन्हें और भी अञ्छा कर दिया। अञ्चुलफजल ने लिखा है—
किसी भी धनवान जातियों के बच्चों और नौजवानों के लिए पाठशालायें थों। उस समय अपनी पाठशालाओं के लिए हिन्दुस्तान
खूब प्रसिद्ध था। कुछ लोगों का यह ख्याल हो गया है कि सुगलः
वादशाह दिन-रात भोगविलास में मग्न रहते थे। यह उनका भ्रम है।
सुगल बादशाह बड़े बहादुर और परिध्रमी थे। वही सबसे बड़े सेनापितः
थे, वही सबसे बड़े न्यायाधीश थे।

प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष अपने कला-कौशल के लिए प्रसिद्धः है। अब पहले के समान यहाँ कला-कौशल का वह गौरव नहीं है, तो भी कितने ही तीर्थस्थानों तथा अन्य नगरों में काम होता ही है। दिल्ली स्प्रिंदाबाद, लखनऊ, अहमदाबाद, बनारस और श्रीनगर अपने कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध हैं।

मराठों की वीरता और परिश्रमशीलता इतिहास-प्रसिद्ध है। इति-हास में राजपूतों की भी वीरता प्रसिद्ध है। मरुभूमि में रहकर इन्होंने अपनी स्वाधीनता की सदैव रच्चा की है। इन राज्यों में सबसे प्रसिद्ध, मेवाइ है। महाराणा कुम्म, महाराणा सांगा और महाराणा प्रताप के नाम सदैव बने रहेंगे। चित्तीइ उसकी प्राचीन राजधानो है।

वीरता में सिक्ख भी प्रसिद्ध हैं। पंजाव उनका देश है। वावा नानक ने हिन्दू-मुसलमानों को एक करने के लिए सिक्ख-सम्प्रदाय चलाया था, पर मुगल वादशाहों के अत्याचार से उनकी एक पृथक् जाति ही वन गई। महाराज रणजीतसिंह ने तो सारे पंजाव पर सिक्खों का राज्य जमा दिया। पर उनके वाद सिक्खों का राज्यः चला गया। सब भी सिक्ख वहें बीर माने जाते हैं। हम लोगों का भारतवर्ष साधारण देश नहीं है। यही सभ्यता की आदि-भूमि है। इसी ने सबसे पहले संसार में ज्ञान का आलोक फैलाया। अयोध्या और सरयू नदी को देखकर तुम्हें क्या भगवान रामचन्द्रजी की याद नहीं आती? अब तो वह एक छोटा-सा नगर है, पर कभी वह बड़ा वैभवशाली था। रामायण में उस समय का हाल है।

रामायण के समय में समाज कितना पिनत्र था, जीवन का बादर्श कितना कैंचा था। पिरवार में एक-इसरे के साथ पूर्ण स्तेह था। राजा और प्रजा में बहुत प्रेम था। प्रजा-रंजन राजा का मुख्य कर्त्तव्य था। रामायण में भ्रातृ-प्रेम, पित-प्रेम, पुत्र-प्रेम और प्रजा-प्रेम सभी श्रातृ हैं। प्रतिज्ञा-पालन तो उनका एक धर्म था।

"रघुकुल-रीति सदा चिल आई। प्राण जाय वर वचन न जाई।

चृन्दावन, मथुरा और द्वारका श्रीकृष्ण की लीला-मूमि हैं। पाण्डवों और कीरवों की अद्भुत कार्यकथा महाभारत में लिखी गई है। रामायण और महाभारत पढ़ने से हमें पता लगता है कि उस समय भारत की कितनी अच्छी दशा थी। बड़े-बड़े नगर थे। राजा प्रजा की भलाई में लगा रहता था। स्त्रियों भी पढ़ी-लिखी थो। अधिकांश लोग सत्यवादी थे। ब्राह्मणों का आदर सभी करते थे। वही समाज के नेता थे। साधारण स्थित के लोग भी सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे।

बौद्धकाल में मगध का राज्य विशेष प्रवल हुआ। इधर देखी, यह विहार की पुण्य भूमि है, जहाँ प्राचीन-काल में जनक, याज्ञवलक, गौतम, किपल, गार्गी, मैत्रेयी, सीता, बुद्ध, महावीर सादि महान् सात्माय हुई। इस प्रान्त का उत्तरीय भाग राजिं जनक का मिथिला देश है, जो एक समय ज्ञान का केन्द्र था। गंगा के किनारे यह लम्बा शहर विहार की राजधानी पटना है। इसी के पास राजगृह नामक स्थान है। जहाँ महाभारत-काल के महाराज जरासन्ध रहते थे। पटने

की पुराना नीम पार्ट लिपुंत्र था विन्द्र एस मीर्थ, अशोक, समुद्र एस बादि हिन्दू समाठों का पही स्मारक है कि चन्द्र एस मीर्थ के समय की विजन करते हुये मेगास्थ्रनीय ने लिखा है कि बार्य वर्त में अने बार का काम माम नहीं है। कि प्राया की एए एक समी वहे सर्वाचारी है। कि लोग खपने द्वारी और घरों में ताला नहीं लगीति। को ई अधि कमी कुठ नहीं चेलिता कि एक एक कि ए

राजायण के तथय में समा कितना पवित वा पवित वा वावरा महाराज्य महाराज्य महाने के बोद्ध-धुमें का हमचार किया।।।हण्डे हैं है इंडिंड के हिम्स के किया।।हण्डे के हिम्स के हिम्स के हमचार किया।।हण्डे के हिम्स के हम के हम

मुगलों के शासन-काल में यूरोप की कई जातियां व्यापार करने के लिए भारतवर्ष थाई । पहले यूरोप से भारत को व्यापार एशियाई कोचेंक या मिस्र के मार्ग से होता था। इटली को नगर वेनिस व्यापार का केन्द्र था। कुरतुन्तियां जिस समय वहें महत्त्व की जगह थी। कुरतुन्तियां पर सुसलमानों की अधिकार ही जाने पर स्थल-मार्ग पायः वन्द ही गये। तब यूरोप के लीग समुद्र मार्ग खींकेने लगे। पीत गाल का एक नाविक वास्को डिन्गामा सबसे पहले भारतवर्ष आया। फिर तो पीत गाल के ही लीग व्यापार करने लगे। धीर धीर, डच लोग साथ फिर केंगे जिसे के लीग कराने लगे। धीर धीर, डच लोग साथ फिर केंगे जिसे के लीग कराने का लिए के लीग ही लीग विकास करने लगे। धीर धीर, डच लोग साथ फिर केंगे जिसे के लिए केंगे के लीग कराने का लिए के लिए केंगे के लीग कराने का लिए केंगे के लिए केंगे के लीग कराने का लिए के लिए केंगे के लिए केंगे कि लिए केंगे के लिए केंगे के लिए के लिए

समय किसा का सदा एक-सा नहीं जाता। मुंगलों के भी गिरने का जमाना आया । औरंगजेब के समय में शिवाजी ने दिलाण में मराठी का राज्य स्थापित किया। पंजाब में सिक्ख प्रवल होने लगे। अवध स्रोर बंगाल के सूबेदार स्वतंत्र नवाव वन बैठे। दक्षिण में निजाम ने भी - अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। पर ये राज्य भी अधिक दिनों तक स्वतन्त्र नहीं रह सके। इनको हराया अंग्रेजों ने जो यहाँ व्यापार करने के लिए बाये थे। अंग्रेजों की जी कमानी यहाँ व्यापार करने के लिए आई थी. उसका नाम ईस्ट इण्डिया कम्पनी था। उसने जगह-जगह कोठियाँ खोलीं। फिर वह अपनी शक्ति बढ़ाने लगी। सबसे पहले क्लाइव ने बंगाल के खेवेदार सिराजुद्दीला की हराकर वहाँ अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित की े उसके बाद माविर्धन आफ वेलेखी ने अंग्रेजी की प्रभुता खूब बढ़ा दी। लाई हार्डिके और लार्ड डलहीजी ने सिक्खों को भी हराया और मारत पर एकमान अंग्रेजों का अधिकार रह गया। इसके वाद भारत में सन् १८५७ हैं में प्रथम स्वाधीनता संग्राम हुआ। उसमें मांसी की महारानी लहमी बाई ने अपूर्व शीर्य प्रदर्शित किया। पर वह संग्राम विफल हुआ।

भंगे जो का प्रभूत्व भारत पर वना रहा। फिर स्वराज्य के लिए कांग्रेस की प्रतिष्ठा हुई। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जनता में स्वाधीनता के लिए अदम्य लालसा उत्पन्न कर दी।

सन् १६१८ में यूरोप का प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ था। उसके बाद सन् १६३६ में युद्ध की ज्ञाला फिर से प्रज्ञालित हो उठी। यह युद्ध पहले युद्ध से कहीं अधिक प्रलयंकर सिद्ध हुआ। और उसका प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ा। सन् १६१८ के महायुद्ध ने यूरोप में. एक्तंत्र-शासन और साम्राज्यवाद का अन्त कर दिया था। परन्त २१ वर्ष के बाद ही उसके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने नाजीज्म और फैसिज्म को जन्म दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दितीय

विश्व संयाम के मूल में भी साम्राज्य की प्रवृत्ति ही काम कर रही थी। -इसके अतिरिक्त नारसायों की संधि द्वारा जर्मनी के साथ न्याय नहीं किया गया था। यह तो स्पष्ट था कि लोकतंत्रवाद और अधिनायक--वाद में जो दो विभिन्न प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं, उनके बीच में -संघर्ष अवश्यम्मावी था। १ सितम्बर, १६३६ को विश्व-संग्राम का आरंभ ्ह्या। जापान और अमेरिका भी उस युद्ध में सम्मिलित हो गये। भारतवर्ष में स्वतंत्रता के बान्दोलन को उसी ने तीवतर कर दिया। न्वात यह हुई कि दितीय महायुद्ध के समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने युद्ध के उद्देश्यों पर प्रकाश डालना अस्त्रीकार कर दिया। उस समय कांग्रेस -मंत्रिमण्डल एक विशेष संकट में पड़ गया। महात्मा गांघी युद्ध के सर्वधा विरोधी थे। ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग का अर्थ यह होता कि देश की जनता महायुद्ध में अंग्रेज का साथ दे रही है। तभी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । उस समय पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव कांग्रेस में रखा और उसके समर्थन में सरदार पटेल ने कहा कि यदि इंगलैंड और अमेरिका यह सोच रहे हों कि वे चालीस करोड़ जनता की सहायता के विना ही युद्ध में -सफलता प्राप्त कर लेंगे तो यह सोचना उनको पूरी मूर्खता है। लोगों को न्यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि यह जनता की लड़ाई है और उन्हें अपने देश और अपनी स्वतंत्रता को कायम रखने के लिए लड़ना है। रूस जिस युद्ध में उलका है, वह जनता का युद्ध है। चीन जो लड़ाई लड़ रहा है वह भी जनता का युद्ध है। किन्तु जव भारत पर भारतीय जनता का अधिकार ही नहीं है तब जनता का युद्ध कैसे कहा जा सकता है ? भारतवर्ष जापानी घोषणाओं में विश्वास नहीं कर सकता। अंग्रेज हर सूरत में यहाँ से चले जावें। महात्मा गांघी ने कहा कि हम लोगों का स्वतंत्रता-युद्ध अत्यन्त ही संचित एवं तीव्रगामी होगा। ह अगस्त, १९४२ में देश के सभी नेता पकड़ लिए गये और जेलों में मेज दिये गये।

१ सितम्बर सन् १९४६ को लार्ड वैत्रल ने अन्तःकालीन सरकार की स्थापना की । १५ अगस्त सन् १९४७ को देश स्वतन्त्र हो गया। भारतत्र्य के इस स्वाधीनता दिवस में सभी लोगों को परमानन्द हुआ। पहली बार देश भर में राष्ट्र की पहली व्वजा फहराई गई।

राष्ट्र की ध्वजा राष्ट्र के गौरव को प्रकट करती है। हम लोगों की राष्ट्रीय ध्वजा हमें राष्ट्रीय उन्नति का मर्भ समसाती है। किसी भी राष्ट्र की सच्ची उन्नति उनकी कर्मशक्ति की गति और उसके सुशासन की सन्यवस्था पर निर्भर रहती है। संसार में अपने कर्म चक्र या शासनचक को प्रवर्त्तित करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे जीवन में ज्ञान, के साथ शक्ति और शक्ति के साथ सम्पत्ति का मेल हो। विना शान शक्ति केवल विनाशकारिणी होती है और सम्पत्ति भी हमें अधःपतन की ओर खोंच ले जाती है। एकमात्र सम्पत्तिया शक्ति के उपार्जन से राष्ट्र की सच्ची उन्नति सम्भव नहीं है। यह बात सभी लोग जानते हैं कि ज्ञान की देवी सरस्वती शुक्लवसना है। इसी प्रकार शक्ति की देवी दुर्गारक वसना है और भगवती वसुन्धरा, जिसके द्वारा हम लोगों को सम्पत्ति पात होती है हरितवसना है। चक्र के साथ सफेद, लाल और हरे रंग का जो मेल हम लोग अपनी इस राष्ट्रीय ध्वजा में पाते हैं उससे हमें सदैत यह शिद्धा मिलती रहनी चाहिए कि अपने देश की उन्नति के लिए, कर्मचक प्रवर्तित करने के लिए, हमें शक्ति, ज्ञान और सम्पत्ति—तीनों का समान रूप से छपार्जन करने का प्रयत्न करना होगा। किसी भी एक की उपेत्वा करने से हम लोगों के राष्ट्रीय जीवन का कर्मचक अवरुद्ध हो जायगा। जो ज्ञान के उपासक हैं उन्हें शक्ति के उपासकों के साथ व्यवसाय और कृषि के उपासकों से भी पूर्ण सहयोग करना चाहिए। ये चारों, ज्ञान, व्यवसाय और कृषि, एक -दृशरे से संचित होकर ही जीवन को पूर्ण रूप से विकसित करते हैं। हममें शान का सास्विक शुभ्र भाव होता चाहिए. इसी से रृडंत वर्ण की महिमा है। हम में शौर्य की लालिमा की दीति होनी चाहिए।

इसीसे लाल अथवा केसरिया रंग वीरों के लिए है। हरे रंग में पीत वर्ण के साथ श्याम वर्ण का समावेश होता है। जैसे सुवर्ण का पीतवर्ण व्यवसाय की सम्पत्ति को प्रकट करता है, वैसे ही शस्य की श्यामलता और मेघों की श्यामता कृषि की समृद्धि व्यक्त करती है। अतएव हम में भी अपनी भ्-माता की सच्ची सेवा कर व्यवसाय और कृषि के द्वारा सुवर्ण और अन्न के रूप में सम्पत्ति प्राप्त कर असकी हरीतमा से हिरत-खुति होनी चाहिए। मेरी समक्त में राष्ट्रीय ध्वजा के इन तीन रंगों का मेल हम लोगों को कर्मयोग का सच्चा पाठ सिखाता है।

भारतीय इतिहास ऋौर संस्कृति का विकास

[8]

संसार परिवर्त्तनशील है। उत्थान और पतन का चक्र यहाँ अनादि काल से घुम रहा है। मानव-जाति अपने उद्योग से क्रमशः उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है, फिर उसकी क्रमशः अवनित होने लगती है। और बन्त में वह विलकुल अधोगति को पहुँच जाती है। अभी तक विद्वानों की यह राय थी कि पहले मानव-जाति अत्यन्त असभ्या-वस्था में थी. क्रमश: उन्नति कर वह आधुनिक सभ्यता का निर्माण कर सकी है। विकासवाद का यह सिद्धान्त यह भी कहता है कि मानव-जाति भी सभ्यता के विकास का ही फल है। मनुष्यों के पूर्व-पुरुप बन्दर थे। बन्दरों की अवस्था का विकास होने पर वही मानव-जाति में परिणत हुए । एक विद्वान् ने इस सिद्धान्त के विलकुल विपरीत मत का समर्थन किया है। उनका कथन है कि मनुष्य बन्दरों के वंशधर ही नहीं, किन्तु उनके पूर्व-पुरुष हैं। उनकी राय है कि पूर्व ऐतिहासिक काल में मानव-जाति ने पहले तो सभ्यता की खूब छन्नति की। फिर छनकी सभ्यता का हास होने लगा। अन्त में वे बिलकुल असभ्य हो गये। उनकी यह असभ्यता बढ़ती ही गई। वे बर्बर हो गए, यहाँ तक कि अन्त में वे मन्द्र से बन्दर हो गये। आज कल संसार छन्नित के पथ पर अग्रसर हो रहा है। परन्त यदि हम मिथ्या शिच्वा के भ्रम-जाल में पड़ कर स्वामाविकता की ओर न जाकर अवनित के पथ पर जाने लगें तो कुछ हजार वणों के बाद पृथ्वी पर फिर मानव-जाति वानर जाति के रूप में परिणात हो जाय।

चीन, मिस्न, रूस, इटली तथा अन्य देशों में जो नये-नये अनुसंधान हुए हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि जब अमरीका का संयुक्त राज्य जलमन्न था, तब पृथ्वी पर सम्यता का पूरा प्रसार था। वह सम्यता अटलांटिक महासागर से भी प्राचीनतर है। उस समय पृथ्वी पर जो मानव-जाति निवास करती थी, वह वर्तमान मनुष्य-जाति से अधिक सम्य थी। उसकी सम्यता के उत्कर्ष का फल यह हुआ कि मनुष्य महामानव हो गये (मानव-जाति का अतिक्रमण कर गए) उनकी मस्तिष्क शिवत हद से वाहर हो गई। तब उनकी बुद्धि नष्ट होने लगी। उनमें का मुकता और पशुत्व की प्रवलता होने लगी। अन्त में वे लोग विलक्कल पशु हो गये। वही वन्दर हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उन्नित और अवनित प्रकृति का नियम है। कितनी ही जातियाँ उन्नित के चरम शिखर पर पहुँच कर अन्त में अवनित के गर्त में गिर जाती हैं। उनकी उन्नित और अवनित के कारण जान लेने से मनुष्य-समाज अपने लिए उन्नित का पथ निर्दिष्ट. कर सकता है इसीलिए इतिहास की आवश्यकता है।

इतिहास का सुख्य उद्देश्य है अतीतकाल का वर्णन करना। यह
मनुष्य मात्र का स्वभाव है कि वह अपने गौरव की स्मृति-रच्चा के लिए
कुछ न कुछ अत्रश्य प्रयत्न करता है। वह चाहता है कि लोग उसके
गौरव को न भूलें। इसी उद्देश्य से कोई मन्दिर वनवाता है तो कोई
कीर्ति स्तम्भ खड़ा करता है। कोई अपनी शिक से कुछ ऐसा काम ही
कर जाता है जिसके कारण लोगों को उसकी याद वनी रहती है। जिस
जाति में ऐसे लोग जन्म लेते हैं वह जाति अपने को धन्य सममती है।
वे जाति के शिरोभूषण हो जाते हैं। जाति को उनका गर्व रहता है।
वे अपने गौरव से जाति का गौरव बढ़ाते हैं। ऐसे लोगों को जाति
भूजना भी नहीं चाहती, क्योंकि उनका चरित्र अनुकरणीय होता है।
इसीलिए जाति स्वयं उनकी चरित्र-कथा को अच्चय वनाये रखती
है। इतिहास का आरम्भ इन्हीं कथाओं से होता है। इन
कथाओं का उद्देश्य चरित्रगत गुक्ता की ही रच्चा करना
है। इसके लिए घटना गौण है। इन्हें किसी घटना का

यथार्थ वर्णन करना नहीं है, इन्हें मानवीय चिरित्र की गुरुता वतलाना है। अतएव यदि घटना को कुछ परिवर्तित कर देने से चिरित्र का माहात्म्य बद जाता है तो कथाओं में वैसा करना अपराध नहीं है। संसार में जितनी कथाएँ प्रचलित हैं छनमें यही माव विद्यमान् है। उन सब में चिरित्र का माहात्म्य है। प्रारम्भ में इतिहास और कथा में कोई भेद नहीं था। परन्तु पीछे से भेद हो गया। कथा में कल्पना की प्रधानता हुई है और इतिहास में सत्य की।

की प्रधानता हुई है और इतिहास में सत्य की। प्राचीन इतिहासों में राजाओं के कृत्यों का वर्णन है। इनका कारण यह है कि उस समय राजा की जाति के प्रतिनिधि थे, उन्हीं में जाति की समस्त शक्ति केन्द्रीभूत हो गई थी। राजशक्ति का हास होने पर जब जाति में शक्ति प्रकट होने लगी तव आधुनिक इतिहास-कारों ने जाति की विकास कथा को अपनाया। उस समय उन्हें जाति के समस्त कृत्यों पर ध्यान देना पड़ा। जाति की शक्ति का पञ्चतम विकास साहित्य और कला में हुआ है। अतएव जाति के उत्थान-पतन को समभाने के लिए छन्हें जातीय साहित्य और कला की भी पर्या-लोचना करनी पड़ी। भिन्न-भिन्न जातियों में पारस्परिक संघर्ष हुआ है। अतएव एक जाति का विकास देखने के लिए दूसरी जातियों की भी विशेषताओं पर ध्यान देना पड़ता है। अतएव साहित्य और कला की तुलना-मृलक विवेचना होने लगी। किसी जाति का विशेपत्व जानने के लिए यह आवश्यक है कि उसके परम्परागत संस्कारों की वालोचना की जाय। अतएव जाति के सम्बन्ध में ऐसी कोई भी छोटी वात नहीं हो सकती जिसके ज्ञान से इतिहास को लाभ न हो। प्राचीन काल में हमारे पूर्वज कहाँ रहते थे, कैसे रहते थे, किन-किन लोगों से खनका सम्बन्ध था, जनका समाज कैसा था; उनकी चाल-ढाल केसी थी; आदि वातों को जानना आवश्यक हो गया है। प्राचीनकाल में कितनी ही ऐसी जातियाँ हो गई हैं, जिनका अब अस्तित्व तक नहीं है। निर्यल जातियाँ या तो नष्ट हो गईं या सदल जातियों में लुप्त हो

गई'। परन्तु जातियों के इस पारस्परिक सम्मिलन का भी प्रभाव पड़ा। अतएव जिनका अब अस्तित्व भी नहीं है, उनकी भी विशेषता जानना आवश्यक है। भूगर्भशास्त्र के द्वारा कितनी ही प्राचीनतम जातियों के अस्तित्व का पता लगा और उसी से उनके विषय में विद्वानों को कितनी ही बातें मालुम हुई'। माषा की आलोचना से माल्म हुआ कि जो जातियां आज पृथक हैं वे कभी एक थीं तब उनकी मूल-जाति की विवेचना होने लगी, इस प्रकार इतिहास का विकास होता ही जा रहा है।

इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक तत्वों के अनुसन्धान में कितने ही विद्वान् आजीवन प्रयत्न करते रहते हैं। भारतवर्ष की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। प्राचीनकाल में उसने विज्ञान, वाणिज्य आदि में उननित भी खूब की थी। कितने ही देशों में उसी ने विद्या और विज्ञान का प्रचार किया। परन्तु प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास अभी तक नहीं बना है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतवर्ष के सम्बन्ध में अच्छी गवेषणा की है, कितने ही भारतीय पुरातत्वों का अनुशीलन कर उसके इतिहास की अच्छी उन्नति की है। ऐतिहासिक परीचा का सबसे बड़ा अवरोधक अन्धविश्वास और पच्चपात है। कुछ तो जातिगत संस्कारों के कारण और कुछ मिथ्या-भिमान के कारण भारतीय साहित्य और इतिहास की समीचा में विद्वानो तक ने भ्रमपूर्ण सिद्धान्तों की पुष्टि की है।

संस्कृति के विकास में तीन मुख्य कारण हैं, जातीय संस्कार, देश और काल। जातीय संस्कार वे हैं जो किसी विशेष जाति के सभी व्यक्तियों में पाये जाते हैं। अपने इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य जाति से कोई जाति पृथक् की जा सकती है। देश और काल के व्यवधान से मो ये संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं हो जाते। एक वार्य जाति का ही उदाहरण लीजिए। बार्य जाति की अनेक शाखाएँ हो गई हैं। वे अव मिन्न-मिन्न स्थानों में रहने लगी हैं। सैकड़ों वर्षों से वे एक दसरों से

पृथक् हो गई हैं तो भी उनका मूल भाव नष्ट नहीं हुआ है। अर्थ जाति की सभी शाखाओं में वह मूल भाव विद्यमान् है जिसके कारण आज भी वे सभी अपने को आर्य जाति में सम्मिलित करा सकती है।

भारतवर्ष के साहित्य बौर कला में आध्यात्मिक भावों की जो प्रधानता है उसका कारण यह देश ही है। काल का प्रभाव दो रूपों में व्यक्त होता है। जाति भविष्य के लिए जो सामग्रो छोड़ जाती है उसका उपयोग कर कालान्तर में उसको सन्तान साहित्य को श्री-दृद्धि करती है। इसके साथ हो भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक-सवर्ष से जो उत्कांति उत्पन्न होतो है उसका भी प्रभाव साहित्य पर अंकित हो जाता है। वर्तमान हिन्दो साहित्य पर प्राचीन आर्य जाति का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार उस पर इस्लाम सभ्यता एवं ब्राधुनिक यूरोप का भी प्रभाव विद्यमान है। इन सब प्रभावों से जाति की उन्नित और अवनित होतो है वह उसके साहित्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। वाह्य जगत के साथ सनुव्यों का सम्पर्क होने से उनके हृदय में हर्ष और विस्मय, आधार खोर आतंक की जो भावनाएँ उद्भूत होती हैं, वे उनमें विद्यमान हैं। आवों की विश्वदता और भाषा की श्राक्ति में वैदिक मन्त्रों के साथ संसार के किसी भी काव्य की तुलना नहीं हो सकती। उनमें प्रकृति का आवरण दूर कर अन्तिम सत्य का रूप जानने की चेष्टा की शई है। हिन्दू की दृष्टि में वेद उसके सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का अनन्त स्रोत है। इनमें सन्देह नहीं कि वेदों ने हो हिन्दू-साहित्य और विश्वान की गति निर्दिष्ट कर दो। वेदों के कर्म-काण्ड और शान-काण्ड से हिन्दू धर्म-शास्त्रों और वेदान्त-शास्त्रों की स्रिष्ट हुई।

शास्त्रों का कथन है कि जिन नियमों के द्वारा हमारे वाह्य और अन्तर्जीवन का संगठन होता है, जनका न बादि है और न बन्त।

वे स्वतः पस्त है। अतएव उन्हें शिरोघार्य करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। सदाचार और कर्त्तव्य विधि में कोई भेद नहीं है। पिनत्र जीवन उसीका समका जाता है जो अपने समाज-निर्दिष्ट सभी कमों को करता है। यही कारण है कि आज तक हिन्दुओं में व्यक्ति की अपेचा समाज का अधिक प्रावल्य है। वेदान्त शास्त्र की शिचा इसके विलक्तल विपरीत है। उसने सामाजिक जीवन की उपेदा कर प्रत्येक व्यक्ति के आरिमक विकास पर जोर दिया है।

कमशः वैदिक साहित्य जन साधारण की सम्पत्ति न हो कर कुछ ही जोगों की सम्पत्ति हो गयो । मारतवर्ष के सर्वसाधारण के मानसिक विकास में रामायण और महाभारत ने खूब काम किया । उनका प्रभाव आज तक अजुण्ण है । इन्हीं दो महाकाव्यों के आधार पर संस्कृत का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है । संस्कृत के जितने किव और नाटककार हुए हैं सभी ने रामायण और महाभारत का आश्रय ग्रहण किया है ।

महाभारत प्राचीन-हिन्द साहित्यागार की अच्चय निधि है। उसके आधार पर अनन्त प्रन्थों की रचना हो चुकी है। संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी किवयों ने उसी के कथा-भाग का अवलम्बन कर कितने काव्य और नाटक लिख डाले। महाभारत में हिन्दू-धर्म का विशद् विवेचन है। उसी में कर्म और शान का रहस्य समकाया गया है। राजनीति और समाज-शास्त्र की विस्तृत व्याख्या उसी में की गई है। सारांश यह है कि ऐसा कोई भी शास्त्रीय विषय नहीं है जिसका निरूपण महाभारत में न किया गया हो इसोलिए कहा गया है—

धर्मेचार्थे च कामे च मोत्ते च पुरुषप्म यदि हास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्ति न तत् क्वचित्।

वर्थात् महामारत में धर्म, वर्थ, काम, मोच्च इन चारों का वर्णन है, जो इसमें है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह दूसरी जगह भी नहीं है।

महाभारत विशाल ग्रन्थ है। उसके कर्ता वेद व्यास माने जाते हैं। वही अठारह पुराखों के भी रचयिता वहे जाते हैं। यदापि ग्रीक साहित्य के एक नाटककार के विषय में भी यह कहा जाता है कि उसने अकेले सैकडों नाटकों की रचना की है. तथापि महाभारत की विशालता देखकर कुछ विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि यह असंभव है कि इतने वड़े ग्रन्थ की रचना एक ही मनुष्य ने की हो। दूसरी बात यह है कि महाभारत में जिन परिस्थितियों का वर्णन है **ष्ठतके अनुपार महाभारत एक जोर तो वैदिक काल तक पहुँच** जाता है और दूसरी बोर वर्वाचीन काल के बौद्ध और जैंन प्रत्थी तथा ग्रीक लोगों के इतिहास ग्रन्थों से आ मिलता है। अतएव इस दीर्घ काल व्यापी सभ्यता का वर्णन एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता। भारतीय सभ्यता की धारा सदैव मन्द ही रही है, क्यों कि भारतीय प्राचीनता के पच्चपाती ही रहे हैं। बाह्य संघर्षों से ही सभ्यता में शीघ परिवर्तन होता है। और प्रायः ७च्च जाति ही का प्रभाव निम्न जाति पर अधिक पडता है। भारतीय आयों ने अनायों से कुछ-न-कुछ जरूर ही लिया होगा। परन्तु अनायों पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी सभ्यता ही लुप्त हो गयी। प्राचीन काल में भारत ही सभ्यता का केन्द्र था। अतएव यही अधिक सम्भव जान पहता है कि वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल तक भारत की परिस्थित में विशेष परिवर्तन न हुआ हो तो भी इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत में बौदकालीन स्तृपीं तक का एल्लेख है। अतएव ऐसे स्थलीं की प्रचित मानना ही पड़ेगा। वैद्य जी का कथन है कि वर्तमान महाभारत ये कर्रा तीन हैं। तीन से अधिक मानना निराधार है। ये तीन हैं - व्यास, वैशस्यायन और सौति। मूल ब्रन्थ ऐतिहासिक था। ख उका नाम जय था। उनी का कर्त्ता व्यास जी है। यही प्रनथ भारत कहा गया है और अन्त में जब एसका विस्तार बढ़ गया तब वह महाभारत हो गया। हम वैद्यम्पायन के प्रनथ को भारत और सौटि

न्की कृति को महाभारत कह सकते हैं। वैद्यं जो का यह सिद्धान्त है कि
महाभारत का वर्तमान स्वरूप शक के पहले तीसरी शताब्दी में गठित
हुआ है। उस समय जैन और बौद्ध धर्मों के आधात से सनातन-धर्म
की दुरावस्था हो रही थी। इसीलिए सौति ने भारत को महाभारत
का बहुत् स्वरूप देकर सनातन-धर्म के अन्तस्थ विरोधों को दूर कर
दिया। मुल ग्रन्थ और वैश्वम्पायन के भारत में विशेष अन्तर-नहींथा। भारत में सिर्फ २४००० श्लोक थे और अब महाभारत में एक
लाख श्लोक हो गये हैं। ये अधिक संख्या सौति की जोड़ी हुई है
प्परन्तु ये भाग ज्यास जी के मून ग्रन्थ को स्फूर्ति से ही जोड़े गये हैं।
पेसी अवस्था में इन भागों का कर्तृत्व भी ज्यास जी को ही दिया
जा सकता है।

महामारत के निर्माण-काल के विषय में वैद्य जी की राय है कि महामारत के काल की सबसे नीचे मर्यादा सन् ५० ईस्वी है। डायोन कायोस्टोम नाम का एक ग्रीक लेखक ईस्वी सन् की पहली शत. ब्री में दिल्ला भारत के पाण्ड्य, केरल इत्यादि भागों में आया था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का इलियड है। डायोन कायसोस्टोम का यह साह्य अत्यन्त महत्व का है। यह तो महाभारत के काल की ऊँची मर्यादा कौन-सी है? महाभारत में यननों का बार-वार उल्लेख किया गया है। आदि पर्व में वर्णन है कि जिस यत्रन राजा को वीर्यवान पाण्डु भी न जीत सका उसे अर्जुन ने जीत लिया। यह बात प्रसिद्ध है कि यवनों से हमारा परिचय पहले-पहल सिकन्दर के समय हुआ। अतएव सिकन्दर की चढ़ाई को, अर्थात् ईसवी सन् के २२० वर्ष पहले के समय को हम महाभारत-काल की पूर्व मर्यादा निश्चत कर सकते हैं।

कुछ विद्वान् भारतीय युद्ध को काल्पनिक मानते हैं। वेवर और दमेग्रचन्द्रदत्त की यही राय है। वैदिक साहित्य में भारतीय युद्ध

अथवा भारतीय योद्धाओं का कुछ भी उल्लेख नहीं है। परन्तु एतरेय जालण में वैचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र का उल्लेख है। फिर वैदिक साहित्य के ग्रंथ इतिहास तो नहीं है। वे तो धार्मिक ग्रंथ हैं। प्रसंगानुसार उनमें किसी राजा अथवा व्यक्ति का नाम देख पहता है। यदि उनमें भारतीय युद्ध का उल्लेख नहीं है तो यह कोई आश्चर्य की वात नहीं है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि भारतीय युद्ध काल्पनिक है। चह कब हुआ इसके विषय में वैद्य जी ने सभी प्रमाणों पर विचार कर यह निश्चिय किया है कि ईसा के ३१०१ वर्ष पहले यह युद्ध हुआ था। मेगास्थनीज के कथनानुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि श्रोकृष्ण चन्द्रगुप्त के २७६० वर्ष पहले हुए। इस हिनाब से श्रीकृष्ण का समय ईसा के ३०३२ वर्ष पहले हुआ। यही किलयुग के आरंभ-काल का निकटवर्ती समय है।

[२]

भारतीय इतिहास में बौद्धयुग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मच पूछिये तो बौद्धयुग से ही भारतवर्ष का प्रारम्भिक इतिहास प्रारम्भ होता है। बौद्धयुग में भारतीय सभ्यता की विशेष श्रीवृद्धि हुई है। साहित्य और कला, विज्ञान और दर्शन की विशेष चन्नित इसी युग में हुई है। बौद्धधर्म के प्रचारकों द्वारा भारतीय सभ्यता की विस्तृति विदेशों में भी हुई। सम्नाट् अशोक के शासन काल में बौद्ध ध्रमण सीरिया, स्याम, मिस्र और मकदुनिया तक गये थे। भारतीय धर्म ही नहीं, भारतीय चित्रकला, मूर्ति-निर्माण विद्या और संगीत तक ने मध्य-रिशिया, चीन और जापान में विस्तृति शास की थी।

ईसा के लगभग ६०० वर्ष पहले भगवान बुद्ध का आविर्माव हुआ या। जन्होंने विश्व की यातनाओं की दूर करने के लिए सत्य च्हुष्टय के उपदेश किये। इस प्रकार ईसा के ६०० वर्ष पहले बौद्ध युग का आरम्भ होता है और ईसा की छुठी शताब्दी में जनका अवकान होता है। बौद्ध युग के प्रारंभकाल में श्रीशु नाग्वंश की विशेषा प्रतिपति थो। राजा बिम्बसार और अजातरातु के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व चन्द्रगृप्त मीर्य ने मगध के राज्य को हस्तगत किया और २४ वर्ष तक उसने उत्तर भारत पर शासन किया। वहीं भारत का पहला सम्राट् कहा जा सकता है। उसका राज्य दिल्ला तक फैल चुका था। उसने सिल्यूक्स को परास्त कर काबुल, कन्धार और हिरात को हस्तगत कर लिया था। उसके बाद उसके पुत्र विन्दुसार ने २५ वर्ष तक शासन किया। इसके बाद अशोक सिंहासना— इत हुआ। अशोक ने युवावस्था में बौद्धधर्म स्वीकार किया और उसी के प्रचार में वह आजीवन लगा रहा। मौर्यकाल में भारतवर्ष सुख्य और समृद्धि से पूर्ण था। अशोक के बाद मौर्य-साम्राज्य छिन्न-भिन्क हो गया।

कुशान-वंश का आधिपत्य ईसा के १० वर्ष पहले सन् ३५० ईसवी तक रहा। उसी समय आन्ध्रों का भी प्रमुख वढ़ा। उनका यह प्रमुख ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक रहा। तिब्बती और चीनी प्रन्थों से विदित होता है कि किनिष्क अथवा किणक कुशान वंश के सभी राजाओं के लिए व्यवहृत होता था, जिस प्रकार सर रामकृष्ण गोपाल भण्डार कर की राय में सातवाहन आन्ध्रवंश के सभी राजाओं का नाम था। संस्कृत में त्रिण्टिक को कमबद्ध करने के लिए बौद्ध विद्वानों की चौथी समिति जालन्धर में बैठी थी। इस समिति के संरचक कुशानवंश के एक किनिष्क थे। जान पड़ता है कि इसी किनिष्क के पुत्र के लिए प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वधोष ने 'महाराज किणक लेख' लिखा था। इसका अनुवाद तिब्बत के एक बौद्ध विश्व कोप में अभी तक सुरच्चित है। उसमें किनिष्क सुत सूर्यवंशोत्पन्न कहा गया है और उसे देव का अनुसरण करने के लिए उपदेश किया गया है। यह देव शब्द देवता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। और इससे आर्य देव की ओर भी इशारा किया गया है। किनिष्क सुत आर्यदेव का

-समसामियक था और उसके पूर्वजों को भारतवर्ष में राज्य शासन करते कितने ही वर्ष बीत चुके होंगे, तभी तो वह सूर्यवंशोद्धव कहा गया।

नागार्जन अश्वकोष का समकालीन था। उसने आन्ध्रवश के किसी सातवाहन नरपित को एक पत्र लिखा था। इसका भी अनुवाद तिब्बती भाषा में विद्यमान है। उसमें नरपित के नाम का स्पष्टील्लेख है। वह नाम है उदियमद्र। आज तक आन्ध्रवंश के जितने नरेशों का पता लगा है, उनमें उदियमद्र नाम का कोई राजा नहीं है। सम्भव है यह कोई राजा नहीं है। संभव है यह कोई स्वतंत्र अधिपति न रहा हो, कोई स्मताशाली सामन्त राजा ही रहा हो।

कुमारजीव के एक चीनी शिष्य ने लिखा है कि आर्यदेव का आविर्माव बुद्धदेव के निर्वाण-पद प्राप्त करने के ८०० वर्प वाद हुआ था। ईसा के ४८० वर्ष पूर्व बुद्ध का निर्वाण-काल माना जाता है। इस हिसाब से आर्यदेव और उसका समकालीन किव अश्वघोप मन् ३२० ईसवी के लगभग हुए होंगे। तब नागार्जुन का स्थितिकाल सन् ३०० में माना जा सकता है और किनष्क का शासनकाल भी इमी समय में हांना चाहिए, क्यों कि उसी के सरज्ञण में बौद्धों की चतुर्थ समिति सम्मिलत हुई थी। यह समय मान लेने पर राजतरंगिणी का यह कथन भी सार्थक हो जाता है कि किनष्क और मिहिरकुल (मन् ५१५ ईसवी) के मध्यवतीं वारह नरेश हुए। लामा तारानाथ ने लिखा है कि नागार्जुन नेमिचन्द्र नामक अपरान्तक के अधिपित के शासन काल में हुए थे। उसकी मृत्यु के बाद मगध देश में दो और छुटे-छोटे राजाओं की प्रभुना रही। इसके बाद चन्द्रगृप्त ने सन् ३१६ ईमवी में गृप्त साम्राज्य स्थापित किया।

कनिष्क को बौद्ध समिति ने बौद्धों में संस्कृत माहित्य का प्रचार किया। स्नान्ध्रवंश के पिछले राजाओं ने भी संस्कृत माहित्य की सन्मित के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। गृप्तदंश के राजाओं के शासन काल में ब्राह्मणों ने भी संस्कृत साहित्य की उन्नति की ए संस्कृत साहित्य के पुनस्द्भव युग को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं। पहले काल में नागार्ज न (सन् ३०० ईसवी) आयदेवः (सन् ३२०) और अश्वघोष (सन् ३२० ईसवी) हुए। दूसरे कालः प्रशस्तपाद, वातस्यायन (सन् ४०० ईसवी) और शवर स्वामी हुए। तीसरे काल में दिङनाग (सन् ५०० ईसवी), कालिदास (५३० ईसवी) और वराहमिहिर (५०५-५८५ ईसवी) हुए। पुराणों की रचना इसी: काल में हुई।

संस्कृति साहित्य के पुनरुद्धनकाल का पहला प्रन्थकार नागार्ज ना था। नागार्ज न का नाम वैद्यकशास्त्र और रसायनशास्त्र में जितना प्रसिद्ध है उतना ही दर्शनशास्त्र में है। नागार्ज न का जन्म निद्म में हुआ था। उस समय आन्ध्रवंश का सातवाहन राज्य कर रहा था। कृष्णानदी के तीर पर त्रिपर्वत की एक गुहा में नागार्ज न ने कुछ समय तक चिन्तन किया। अमरावती स्तृप के पास की एक बुद्धमूर्ति पर जो लेख खुदा है उससे यह निदित होता है कि नागार्ज न निद्म देश में अवश्य रहते थे। इस लेख की लिप सातवीं शताब्दी की है। सन् ४०१ के परवर्ती तो नागार्ज न हो ही नहीं सकते क्योंकि इसी समय कुमारजीव ने चीनी भाषा में उनका जीवन-चरित लिखा था। अतएक यही मानना अधिक उचित होगा कि नागार्जुन सन ३०० ईसवी में हुए।

नागार्जुन ने न्यायशास्त्र पर कई प्रत्य लिखे हैं। जान पड़ता है कि वात्स्यायन ने उनके ही एक प्रन्थ-विग्रह-व्यावर्तनी कारिका से अपने न्याय भाष्य में कुछ अवतरण उद्धृत किये हैं। नागार्जुन का कीर्ति-स्तम्भ है उनका माध्यमिक दर्शन। पद्मपात रहित विद्वानों की राय है कि शंकराचार्य का मायावाद उसी से मिल गया है। सच तो यह है कि नागार्जुन भारतवर्ष के अरिस्टाटिल थे। ईसा की तीसरी शताब्दी के आरंभ में कुशानवंश का अन्त हो गया। चौथा शताब्दी के आरंभ में गुप्त साम्राज्य का उदय हुआ। गुप्तों के शासनकाल में भारत की सभ्यता चरम सीमा को पहुँच गई थी। इसी समय हिन्द्धमं और सस्कृत साहित्य का अभ्युदय हुआ। पाँचवीं शताब्दी के अन्त में हूण नामक जाति के आनमण होने लगे। ईसा की ७वीं शताब्दी में हर्ष-साम्राज्य की स्थापना हुई। महाराज हर्ष ने सन् ६०६ से ६४७ तक शासन किया। उन्हों के समय में बौद्ध यात्री हुएनसांग भारतवर्ष में आया था। यही बौद्ध-धर्म का हास-काल और पौराणिक धर्म का उत्थानकाल है।

प्राचीन काल में हिन्द-समाज में स्त्रियों का स्थान ६ था। धार्मिक तथा अन्य सामाजिक कृत्यों में जनका अधिकार पुरुषों ही के समान था। परन्तु जब पुरुष चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर सन्यास ग्रहण करता था तब स्त्रियाँ पुरुषों का स्थान नहीं पा सकती थीं। सच तो यह है कि स्त्रियाँ जस समय विष्नस्वरूप मानी जाती थीं। जब बौद्धर्म का पहले-पहल प्रचार हुआ तब उसमें स्त्रियों को दीचा लेने का श्रिधकार न था। बौद्धर्म का प्रारम्भिक रूप निवृत्ति मृलक था। जो उसमें दी चित्र हांते थे उन्हें सांसारिक विषयों से अपना सम्बन्ध तोड़ देना पहता था। बौद्ध भिच्छु स्त्रियों पर दृष्टिपात तक न करते थे। परन्तु पीछे से अपने शिष्य (ज्ञानन्द) के बाग्रह से बुद्धदेव ने स्त्रियों को दीचा देना स्त्रीकार कर लिया। गोतमी तथा अन्य भी कई स्त्रियाँ भिच्छुणी होकर बोद्धर्धमं में सम्मिलित हुई।

बीद साहित्य में जगह-जगह स्थियों का बड़ा अच्छा चित्र अंवित हुआ है। छः वर्ष तक घोर तपस्या करने के बाद जब बुद्धदेश अशक हो गये थे तब सुजाता ने आवर उन्हें भोजन दिया था। विशाखा ने भगवान बुद्ध और उनके शिष्यों की बड़ी सेवा बीधी। बैंद नाहित्य में उसका चरित्र बहुत उल्ज्वल वर्णित हुआ है। इतमें सन्देह नहीं कि मिन्नुओं की अपेना मिन्नुणियों को संख्या
न्यहुत कम थी। तो भी समान में उनका हा प्रभाव था। उनकी
विद्वत्ता और घार्मिकता की अनेक वथाएँ प्रचलित हैं। थेरी गाया—
के अधिकांश भागों की रचना स्थिविराओं ने की है। उन थेरियों में से
कुछ आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थों। उनके पास कितने ही भिन्नु
वौद्धर्म के तत्व समक्तने के लिए आया करते थे। थेरी-गाथा में
सोम नाम की एक स्त्री का उल्लेख है। यह राजा विम्त्रतार के समापंडित को कन्या थी। वह अपने स्वाध्याय और योग के वल से अईत्
के पद पर पहुँच गई थी। सुमेवा नाम की भी एक राजकन्या
उल्लिखित हुई है। उसकी प्रतिमा विल्वा थी। उसने सांवारिक
सुखों का त्याग करके विश्व-सेवा स्त्रीकार की थी। शिन्ना और
पातिव्रत्य किसी एक ही जाति की स्त्रियों में नहीं पाये जाते। सभी
जातियों और सभी समानों में विदुषी और सदाचारिणी स्त्रियाँ हुई हैं।
उनके प्रयत्नों से बौद्ध धर्म की बड़ी उन्नित हुई है और उसका खूब
प्रचार हुआ।

बौद्ध युग में कितने ही विद्या-फेन्द्र थे उनमें तक्षिणला और नालंदा की विशेष एपाति है। दूर-दूर के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे। बंगाल के प्राचीन विद्या-केन्द्रों में विक्रमशिला का नाम प्रसिद्ध है। ईसा की अष्टम शताब्दी में बंगाल के राजा धर्मपाल ने इसकी स्थापना की थी। इस मठ से कितने ही पंडित सद्धमं का प्रचार करने के लिए तिब्बत जाते थे। यहाँ चीन और तिब्बत से कितने ही लोग शिद्या-पाप्ति के लिए आते थे। तिब्बत से जो मिक्तु यहाँ ज्ञानार्जन के लिए आये थे उन्हों में से एक के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी जाती हैं। इस मिक्तु का नाम धर्मकी ति है। नाम से तो यह मिक्तु भारतवासी जान पड़ेता है, परन्तु यथार्थ में यह भारतीय नहीं था। वह तिब्बत का था। इसका निवास-स्थान 'खमस' प्रदेश में था। रायबहादुर शरचन्द्रदास ने अपने तिब्बती अभिधान में लिखा है कि यह प्रदेश

र्विञ्चत के पूर्व-भाग में अवस्थित है, अतएव यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति तिञ्चतीय था।

बौद्ध पंडितों में एक दसरे धर्मकीर्ति का भी नाम पाया जाता है। चह बौद्ध नैयायिक दिग्नाग का शिष्य था और स्त्रयं न्यायशास्त्र में निष्णात था। परन्त विक्रम शिला से इस धर्मकी ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। नालन्दा से उसका सम्बन्ध अवश्य था, क्यों कि वह धर्मपाल का शिष्य था और धर्मपाल शीलभद्र के पहले नालन्दा का अध्यक्त था। यदि हम तारानाथ के कथन को विश्वसनीय समर्फेती हमें मानना पड़ेगा कि इस धर्मकीर्ति के जीवनकाल में विकमशीला का अस्तित्व ही न था। विक्रमशिला से तिब्बतीय पण्डित धर्मकीर्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। पी० कार्डियर नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने तिब्बतीय त्रिपट की जो सूची प्रकाशित की है उसमें तिब्बतवासी धर्मकीर्ति का जल्लेख हुआ है। उससे यह मालूम होता है कि धर्म-कीर्ति ने कुछ संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद तिञ्चती भाषा में किया था। खन बन्ध का नाम है समय पंच और उसके कर्चा है आचार्य पद्मसंभव पाद। जान पड़ता है कि धर्मकीर्ति तिब्बत से संस्कृत पढ़ने के लिए ही यहाँ आये थे और जब ये यहाँ रहने लगे तब से तिब्बतीय भाषा में संस्कत प्रन्थों का अनुवाद भी करने लगे। अनुवाद कार्य में इसरे बीद भित्तुओं से भी इन्हें सहायता मिलती थी। काल चकावतार नामक अन्थ के अनुवाद में इन्हें उसके रचियता अभयंकरगृत से सहायता मिली। एक ग्रंथ के अनुवाद में इन्होंने सुवतश्री को सहायता दी। धर्मकीर्दि ने कुल १४ मन्धी का अनुवाद किया है।

[३]

भारतीय नरेशों के लिए निस्सन्तान होना बड़ा ही क्लेशबायक या। उनका विश्वास या कि विशुद्ध सन्तति से इहलोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है। पितृऋण से विसी मनुष्य का ब्ह्रार

तभी हो सकता है जब वह अपने पीछे कोई सन्तान छोड़ जाय जो पितरों को विण्डदान और तर्पण करे। पुत्र-पासि के लिए यहाँ तक का विधान था। यदि दैव की कृपा से राजमहिषी गर्भवती हुई तो उससे राजा और प्रजा दोनों की अपार आनन्द होता था। गर्भवती रानी की सेवा में बराबर नो महीने तक कुशल और विश्वासपात्र राजवेदा लगे रहते थे। उसकी सभी इच्छाएँ पूरी की जाती थीं। वालक के उत्पन्न होने पर कुलगुरु अथवा पुरोहित आकर उसका जातकर्म संस्कार कराता था। पुत्रजन्म के उपलद्दय में खूब उत्सव किया जाता था। वामोद-प्रमोद में नृत्य और गान मुख्य था। राजे-महाराजे अपने कैदियों को छोड़ कर हर्ष प्रकट करते थे। दान भी खूब दिया जाता था। वच्चे के लिए एक धाय रक्खी जाती। जब बालक कुछ वड़ा हो जाता तब उठका चूडा-कर्म होता। इसके बाद विद्यारम्भ करायाः जाता था। पहले लिपि और संख्या-ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। ११ वर्ष की अवस्था में च्रित्रयों का उपनयन-संकार होता था। तबतक शिक्षा घर ही पर दी जाती थी। नदी के द्वारा जैसे जलचर जीवन समुद्र के भीतर घुत जाते हैं, उसी प्रकार वर्णमाला की शिचा पाकर राजकुमार का प्रवेश शब्दशास्त्र में हो जाता था। यशोपवीत हो जाने के बाद राजकुमार को पढ़ाने के लिए वड़े-वड़े विद्वान नियुक्त होते थे। आन्वी चिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति की विशेष शिचा दी जाती थी।

कालिदास ने अपने रघुवंश में सभी राजाओं के दिग्विजय का छल्लेख किया है। इससे यह जान पहता है कि उस समय प्रत्येक हिन्दू राजा के चित्र में आसमुद्र द्वितीश बनने की अभिलापा रहती थी। सारे देश को अपने आधिपत्य में लाकर उसे समृद्धिशाली और सुखी बनाना वह अपना कर्त्वव्य समक्ता था। जब राजा युद्ध के लिए प्रयाण करता तब पुरोहित आकर पवित्र मन्त्रोञ्चारणपूर्वक राजा के शारीर पर जल छिड़कता। फिर वाजिनीरांजन की विधि की जाती थीं

स्वीर हवन किया जाता था। जब राजा जाने लगता तब उस पर पुरवासिनी धान की खीलें बरसाती। दिग्विजय कर लेने के बाद यज्ञ किया जाता था। इस प्रकार के यज्ञ हिन्दुओं के असीम राजनितिक ज्ञान के परिचय हैं। इस सम्बन्ध में वाजपेय और राजस्य-यज्ञ ध्यान देने योग्य हैं। राजस्य-यज्ञ करने से राज पद मिलता था, पर वाजपेय करने से सम्राट् पद मिलता था।

इसमें संदेह नहीं कि उस समय राजा यथाकाल प्रवीधी थे। कौटिल्य के वर्षशास्त्र के बनुसार राजा को तीन वजे उठ जाना चाहिए। जब राजा के सोकर उठने का समय होता तब सृत-पुत्र आकर उसकी स्तति-गान करते। राजसभा में जाने के पहले राजा शृगार करता था। ऐसा जान पड़ता है कि एस समय राजाओं को लम्बे पेश रखने का वडा शौक था। उनका यह केश-कलाप मीतियों की माला से वाँध दिया जाता था। शरीर पर चन्दन का लेप करके उस पर गोरोचन से वैश-बुटे बनाये जाते थे। उनकी पोशाक में दो ही बस्त्र रहते थे, एक पहनने के लिए इसरा बोट्ने के लिए। राजा रत्नजटित सङ्घट सिर पर धारण करते थे, कानों में कुण्डल पहनते थे। गले में पहनने के लिए मोतियों और रतनों के हार थे। भुजाओं में केयूर या श्रंगद पहने जाते थे। हएनसांग ने लिखा है कि राजाओं के सिंहासन कँचे और तंग होते थे। उनमें मोतियों की कालरे लगती थीं। विहासन के नीचे रत्नों से विभूपित एक पाद-पीठ रवेखा रहता था। राजा उसी पर पैर रखता था। सामन्त और उच्च पदाधिकारी उसी पर सिर रख कर प्रणाम करते थे। राजा शासक था और न्यायाघीश भी। धर्मशास्त्र में पारंगत पण्डितों के साथ बैंट प्रतिदिन वह स्वयं ही बादियों और प्रतिवादियों के अभियोगों को तुनता और उनका फैसला करता था। प्रतिदिन मंत्रियों के साथ ग्रप्त मन्त्रणाएँ वरने के लिए एक समा होती थी। इसमें पहले बाद-विवाद होता था और तब बोई विचार स्थिर किया जाता था। ये सब बावें बड़ी गृप्त रवखी जाती थीं। गुप्त मेद लेने के लिए जासूस रक्खे जाते थे। उनका काम शतुओं ही की खबर रखना नहीं था, किन्तु मित्रों का भी हाल-चाल देखते रहने की उन्हें आजा थी। राजा को प्रतिदिन अपनी प्रजा को दर्शन देना पड़ता था। जान पड़ता है, इसके लिए एक सरीखा बना रहता था। जब अग्निवर्ण अन्तः पुर में ही रहने लगा तब मंत्रियों से वाध्य किये जाने पर उसे अपना पैर एक खिड़की में लटकाना पड़ा। प्रजा ने उसके पैरों ही के दर्शन से सन्तोष कर लिया।

राजा प्रायः अपनी राजधानी में ही रहा करते थे। नगर ऋढिसम्पन्त होते। जिसके चारों ओर एक परकोटा घिरा रहता था। वहाँ
वही-वड़ी ऊँची अट्टालिकाएँ वनी रहती थीं। राजमार्ग खूव चौड़े और
साफ रहते थे। जनपर पानी का छिड़ेकाव किया जाता था। वावलियों
की संख्या अगण्य थी। भारतीयों को बाग-वगीचे लगाने का वेहद
शौक था। पुरुष घूमने जाते थे और उनमें वसन्तोत्सव के समय लोगों
की खूब भीड़ होती थी। इन वागों के सिवा सभी श्रीमानों के घरों
में पुष्पोद्यान होते थे। जब गरमी खूब पड़ने लगती थी, तब अमीर ऐसे
मकानों में रहते थे जिनमें जल के फव्वारे चला करते थे। फर्श पर
चन्दन का छिड़ेकाव किया जाता था। फूलों की शब्या बनाई जाती
थी। नगर में सैकड़ों बड़े-बड़े मन्दिर थे। उनमें देवताओं की मूर्त्तियाँ
स्थापित थों, जिनको पूजा-अर्चना बड़ी धूमधाम से की जाती थीं।

राजाओं को शिकार खेलने का खूब शौक था। राजा राजसी ठाट के साथ शिकार खेलने के लिए निकलता था। उसके साथ कितने ही शिकारों और कर्मचारी जाते थे। शिकार खेलने के लिए शिकारी कुरो पाले जाते थे। किसी-किसी राजा के साथ कुछ स्त्रियाँ भी जाती थीं। मेगास्थनीज ने भी लिखा है कि शिकार के समय चन्द्रगुप्त को सेकड़ों स्त्रियों घेरे रहती थीं। अभिज्ञाद-शाकुन्तल में ऐसी स्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

राजाओं को अन्तःपुर सौंदर्य और विलास का निवास-स्थान था। अन्तःपुर में द्वार-रक्त का पद कंचुकी को दिया जाता था। जब राजा अन्तःपुर में हो तो जससे मेंट करने के लिए कंचुकी के द्वारा खबर मेजनी पड़ती थी। आवश्यक काम होने पर मन्त्री अन्तःपुर में जा सकता था। राजाओं में बहुपत्नी-विवाह की प्रथा होती थी। सभी राजाओं की एकाधिक रानियाँ होती थीं, इनके सिवा दासियाँ भी वहाँ रहा करती थीं। अन्तःपुर में सदैव आमोद-प्रमोद होते रहते थे। नृत्य और संगीत की घूम मची रहती थी। इसकी शिक्ता देने के लिए वड़े-वड़े कलाकोविद नियुक्त होते थे। वाद्यों में मृदंग और वीणा का प्रचार था। स्त्रियाँ वीणा ही बजाया करती थीं। चोली का भी प्रचार था। पर्दे का रिवाज नहीं था, तो भी वाहर निकलने पर स्त्रियाँ मुँह पर घूंघट निकाले रहती थीं। जनके अलंकारों में कांची और नुपुर मुख्य थे। वे बाँखों में कज्जल और पैरों में महावर लगाती थीं। देशों को फूलों की माला से बाँधा करती थीं। फूलों के गहने पहनना छन्हें खूय पसन्द था।

कालिदास के समय में सामाजिक व्यवस्था वैसी ही थी, जैसी आजवल है। हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मणों का वड़ा मान और आदर था। प्रत्येक वर्ण के मनुष्य अपने ही वर्ण में विवाह करते थे। सती की प्रथा का जोर नहीं था। मिट्टी के वर्तन भी काम में लाये जाते थे। स्पर्शास्पर्श का विचार था।

राज्यशासन का समस्त भार राजा ही पर था। वही अपने विस्तृत राज्य का निरीक्षण करता था। अपनी प्रजा के साथ राजा सदैव सद्-व्यवहार करता था। शासन कठोरता से नहीं किया जाता था। राज्य की आमदनी का मुख्य द्वार भूमिकर था। उपज का छठा हिस्सा भूमिकर के रूप में लिया जाता था। प्रजा चन्तुष्ट और छुखी थी। वाख्तिय और व्यवसाय की उन्नतावरणा थी। बड़े-बड़े व्यापारी जहाजों पर चढ़कर दूर-दूर देशा जाते और वहाँ व्यापार करते। चोरों कौर डाकुओं का कम मय था। चोरों को प्राण दण्ड दिया जाता था। सोने के सिक्कों का प्रचार था। राज्य-कर्मचारी घृष लिया करते थे। सेना-विमाग की अच्छी व्यवस्था थी। सेना के चार भाग थे—पैदल, सवार, रथ और हाथी। शिचा का अच्छा प्रचार था। राजा विद्वानों का आदर करते थे।

[8]

भारतवर्ष में एक हजार वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रावल्य रहा। बौद्ध धर्म का आविर्भाव दुःखवाद से हुआ है। संसार दुःखमय है, क्यों कि वह जन्म, जरा, मृत्यु और व्याघि से ग्रस्त है। संसार में सुक्ति पाने का खपाय बतलाने के लिए संन्यास का पथ श्रेयस्कर माना गया। जब वौद्धमत शून्यवाद में परिखत हुआ तव लोगों के चित्त में देवल संशयावस्था थी। वौद्ध संघों में अनाचार फैलने लगा। सर्वसाधारण भी सदाचार की अवहेलना करने लगे। धर्म के तत्व रहस्यमय ही गये। दार्शनिक विद्वान् शुष्क तर्कजाल में पड़ गये। भगवान शंकराचार्य ने हिन्द-समाज का पुनक्द्वार किया। उनका मत मायावाद पर अवलिम्बत है। धर्म और संन्यास मार्ग पर उन्होंने भी जोर उनके अद्देतवाद का प्रभाव हिन्द्-साहित्य पर पड़ा। समय मिन्न-भिन्न स्मृतियों की भी रचना हुई। इस प्रकार नव हिन्दू-धर्म की सभी व्यवस्थाएँ संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध हुई। जनसाधारण से जनका जराभी सम्पर्कन था। वहाँ तक उनका प्रवेश नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक कृत्यों के बाडम्बर में सदाचार का लोप हो गया। स्मार्त धर्म के प्रभाव से कृत्रिम आचार व्यवहारी की वही प्रवलता हो गयी। जातिभेद खूब बढ़ गया। कँच-नीच का बहुत ख्याल रक्खा जाता था। इसी समय से मुसलमानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। मुसलमानों के कारण यह मेद-मान और भी बढ़ गया। विद्वानों की मनस्तुष्टि के लिए स्मति, न्याय और दर्शन-

शास्त्र की जटिल समस्याएँ थीं। पर छनसे सर्वसाधारण का सन्तोप नहीं हो सकताथा। उन्हें तो लौकिक साहित्य की आवश्यकताथी। सुसलमानों के आगमन के कोई दो सी साल बाद प्रचलित भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण होने लगा। यह साहित्य वैष्णव धर्म के आन्दोलन का परिणाम था। जब हिन्दी में धार्मिक भाव प्रकट होने लगे तव पंडितों ने उसका खूब विरोध किया। संस्कृत भाषा विद्वानी की भाषा थी। हिन्दी साहित्य को जनता ने तो अपनाया पर निहानी ने उसको सदैव तिरस्कार की दृष्टि से देखा। भाषा के प्रति सदैव चनका अवज्ञा का ही भाव था। परनत विद्वानी से बनाहत होने पर भी हिन्दी-साहित्य का प्रचार बढ़ने लगा। इसका एकमात्र कारण वैष्णव धर्मका प्रमाव था। रामानुज के समय से रामानन्द के समय तक वैष्णव सम्प्रदाय में उच वर्ण के ही लोग दीचा प्रहण करते थे। और उन्हें ही दीचा देने का अधिकार था। परन्तु रामानन्द ने सर्वसाधारण के लिए घर्मका पथ प्रशस्त कर दिया। धर्मफेवल ब्राह्मण और चत्रियों की साधना का विषय नहीं रहा। रामानन्द की कुपा से जुलाहे, मोची बौर डोम भी उसकी साधना में निरत होने क्तो। रामानन्द के ऐसे शिष्यों में कवीर प्रधान थे। कबीर ने भी वपना सम्प्रदाय चलाया | जनका धर्म-मत बहुत उदार है । जसमें जरा भी संकीर्णता नहीं है। आचार-व्यवहार में कृत्रिमता और पूजा फे बाडम्बर को जन्होने सर्वधा त्याज्य समका। निर्मुण की जपासना प्रारम्भ हुई। निराकारवादी इन साधकों की उपासना। शास्त्रों के अनुशासन से मुक्त थी, पर भाव और सौन्दर्य-द्रेम से पूर्व थी।

भारतीय साहित्य में सर्वत्र त्याग की महिमा वर्णित है। यह रयाग अपने जीवन को रिक्त करने के लिए नहीं किया जाता विन्तु उसकी पूर्ण करने के लिए। प्रेम की चरम सीमा त्याग में है। धर्म की भी अन्तिम अवधि त्याग है। इसी वारण दुःख का दमन नहीं किया गया है। किन्तु दुःख को अंगीकार वर उसे सुख का रूप ्विया गया है। जो संग्रह करना चाहता है वह मानों अपने अधिकार की सीमा को संकुचित करता है। विश्व से अपना सम्बन्ध छोड़ कर वह एक चुद्र सीमा में निवास करता है। परन्तु त्याग से वह विश्व को अपना कर लेता है। तब 'उसका जीवन कम नहीं होता, किन्तु पूर्ण हो जाता है। जल-विंदु तभी तक चुद्र है जब तक वह अपने को प्रथक् रखता है, किन्तु ज्योंही वह अपने को अनन्त समुद्र में त्याग देता है त्योंही वह स्वयं अनन्त हो जाता है। जब लोग विश्व बोध की इस भावना को भूल रहे थे तब कबीर को इसी की चेतावनी देनी पड़ी—

सम्पुट मांहि समाइया सौ साहिव नहिं होय। सकल भांड में रिम रहा मेरा साहिव सोय॥

यथार्थ वात यह है कि सत्य का स्वरूप चिरन्तन है। हिन्दी-साहित्य में साधकों ने अपने जीवन में उस सत्य का अनुभव कर उसे प्रकट किया है। उन्होंने मनुष्य-जीवन में ही सत्य का पूर्ण रूप दिखलाने का प्रयास किया है। इन साधकों ने यह सन्देश उस समय दिया जब सत्य अनुभूति का विषय न होकर तर्क का विषय हो गया था। विद्वान् सत्य को अन्थों में खोजते थे, मानव-जीवन में नहीं। वर्क और विवाद से सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। सत्य के धाम का मार्ग एकमात्र अनुभूति हैं।

कवीर का घर सिखर पर जहाँ रटपटी गैल। पाँव न टिके पिपीलिका, पण्डित लादे वैल।।

वैष्णव साधकों ने मिथ्या बाडम्बर को धर्म नहीं समसा। उन्होंने जीवन में ही सत्य दी उपलब्धि का उपदेश दिया।

हिन्दी के आदि काल में जितने सन्तों ने अपने उपदेशों को पय-वद्ध किया है उनमें कबीर सबसे प्रधान हैं। उनका जन्म उस काल में हुआ था जब ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध भारत में आन्दोलन हो रहा था। हिन्द-समाज में धर्म की जो कुत्रिम मर्यादा बना दी गई थी उसके कारण समाज बड़ा संकुचित हो गया। धर्म केवल स्मृति शास्त्र का अनुशासन-मात्र या और सदाचार बाडम्बर। कवीर नीच कुलोरपन्न धे। सत्यव उन्हें कोई भी ब्राह्मण-धर्म का उपदेष्टा नहीं स्वीकार करता था। कवीर तत्कालीन प्रचलित भाषा में धर्मोपदेश किया करते थे और उस समय धर्म के सभी अनुशासन संस्कृत भाषा में निवद्ध थे। कवीर ने ब्राह्मणों के इस धर्माधिकार पर और संस्कृत के एकाधिपरर पर सदेव आच्चेप किया है।

संस्कृतिहिं पाण्डित कहें बहुत करें अभिमान।
भाषा जानि तरक करे ते नर मृद् अजान।
किल का बाम्हन मसखरा ताहि न दीजे दान।
कुटुम्ब सहित नरके चला साथ लिया जजमान।
पण्डित और मसालची दोनों सके नाहि।
औरन को करें चांदना आप अधेरे मीहि।

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे। उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फकीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न वरते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत में सुमलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिहन्ही होने पर भी इन दोनों धमों का प्रवेश भारतीय सम्यता में हो गया। हिन्दी और फारसी से उद्देश में एक नदीन भारतीय कला की सहिष्ट और मुसलमान की कला ने मध्यपुग में एक नदीन भारतीय कला की सहिष्ट की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। दमवों का वार्य निर्दिष्ट हो गया। व्यवसाय और वाण्डिय की वृद्धि होने लगी। देश में नदीन भाव का यथ्छ प्रचार हो गया। अवदर के राजस्व काल में इसका पूरा प्रभाव प्रवट हुसा। उसके शाननकाल में जिस साहित्य और कला की सुष्टि हुई एसमें हिन्दू और सुमलमान वा

≈व्यवधान नहीं था। अकवर के महामंत्री अञ्चलफजल ने एक हिन्दू -मन्दिर के लिए जो लेख उरकीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है-हे ंईश्वर सभी देत्र-मन्दिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हों को पुकारते हैं। विश्व-महा-महावाद तुम्हों हो और -सुसलमान तुम्हीं हो । सभी धर्म एक ही वात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुक्तनान मस्जिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिरजाघरों में तुम्हारे लिए घंटा वजाते हैं। एक दिन मैं -मस्जिद जाता हूँ और एक दिन गिरजा, पर पर मन्दिर में मैं तुम्हीं की -खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न -नवीन। अबुजफजल का यह उद्गार मध्ययुग का नव सन्देश था। -सुगलों के शासन-काल में हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे ये। न ती हिन्दुओं ने तत्कालीन राजभाषा को उपेचा की और न -मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य की । उस समय वैष्णव सम्प्रदाय के आचारों ने घामिक विरोध को भी हटाने की चेष्टा की । कितने ही -सुसलमान साधक श्रोकृष्ण के उपासक हो गये।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान जाति का विरोध नहीं व्हर हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्ष बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया। इसी चिरंतन सत्य के आधार पर इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर भारत ने अपनी जातीयता को स्थापना की है। इस जातीयता में सभी जातियाँ अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होने के लिए हिन्दुओं ने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा है और न मुसलमानों ने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों का परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मिन्दर में हुआ जहाँ वाह्य आचार-अयवहार और कृतिम जाति-भेद के न्त्रांधन से मनुष्य जाति की एकता भिन्न नहीं होती।

[x]

श्रेष्ठ विद्वानों की राय है कि प्रत्येक देश का इतिहास कई युगों में चॅंटा रहता है। प्रत्येक युग में एक विशेष सभ्यता, कुछ विशेष विचारों और भावनाओं तथा छन्हों के अनुकूल संस्थाओं का प्राधान्य रहता है। उनके द्वारा देश दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता दिखाई देता है। किन्तु कालान्तर में वही विचार, वही भावनाएँ, वही सस्थाएँ ऐसी विकृत हो जाती हैं कि उनका प्रारम्भिक बल जाता रहता है। -तव प्रकृति के विकास-नियम के अनुसार एक नवीन सभाता का उद्भव होता है, लोग जन्नति के नये-नये मार्ग खोजते हैं। नये-नये प्रयोग करते हैं। देश में प्रमोद, ब्रालस्य और मिथ्याचार के स्थान में एक जागृति की लहर-सी छा जाती है। इसी लहर की इतिहासश एक नवीन -युग का प्रादुर्माव कहते हैं। १६वीं शताब्दी में भारतवर्ष में एक इसी प्रकार के युग का जन्म हुआ था। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् जदुनाय सरकार का कथन है कि १८वीं शताब्दी के मध्यकाल में ही मुगल-सभ्यता उस पहलवान के सहश्य हो गई थी जिसकी शक्ति के हास ही जाने के कारण बात-बात में दम फूलने लगता है। यही चीणता -समाज के अंग-अंग में प्रवेश कर गई। किन्तू तरकालीन भारतवर्ष के जीवन में इसके लच्चण सबसे पहले सैनिक और राजनैतिक दौर्यलय के रूप में प्रकट हुए थे। देश में स्वयं अपनी रक्षा करने की शक्ति न रह यई थी। बादशाह के सिर पर ताज तो था किन्तु जसको सम्हालने के लिए न उसके बाहुओं में बल था और न मस्तिष्क में योश्यता। दरवारियों की भो बड़ी दुर्दशा थी। सबको अपनी-अपनी पही थी। स्वार्थ के मारे वे सामृहिक भलाई का अर्थ ही न सम्म मकते थे। सी चात की बात यह है कि साम्राज्य में सर्वत्र मिध्याचार, अनाचार, छल और कपट का दौर-दौरा था। इस ब्यापक और अयंकर गड़बड़ी के कारण लोग सत् साहित्य. शिल्य और कला, यहाँ तक कि धर्म के

आधारभृत सिद्धान्तों को भी भृल बैठे थे। ठीक इसी अवसर पर योरोप ने इसके साथ मुठभेड़ शुरू की। इसके वेग को रोकना भारतवर्ष के लिए असम्भव था। हार अवश्यम्भावी हो गयी। पचास वर्षों के ही भीतर सारे भारत पर इंगलैंड का बातक छा गया।

इसके पश्चात् जो समय आया उसको हम आधुनिक भारतवर्ष का अन्ध-युग कह सकते हैं। यह समय मीटे तौर से सन् १७६० से १८३० तक अर्थात् कार्नवालिस के शासन-काल-से-बैनर्टिंग-के-शासन-काल तक रहा है। इसको अन्ध-युग इसलिए कहा है कि इस समय प्राचीन सभ्यता और संस्कृति तो एक दम ठण्डी पड़ गई थी और नवीन का जन्म ही नहीं हुआ था। लोग हैरान थे। यह कोई नहीं कह सकता था कि भावी भारतवर्ष का जीवन किस साँचे में ढाला जाने वाला है। किन्तु शायद इसको आधुनिक भारतवर्ष का वपन काल कहना अधिक उपयुक्त है, क्यों कि इसी समय में बीज पृथ्वी फाइकर अकुर निकालने का उद्योग कर रहा था।

इसके समाप्त होते ही भारतवर्ष का आधुनिक युग चलता है।
भारतवासियों ने अपनी दिशा निश्चित कर ली थी। हंगलैंड में इन
दिनों घड़ाघड़ सुधार हो रहे थे। भारतवासियों ने उन्हों का अनुकरण
किया। राष्ट्रीय-जीवन किसे कहते हैं देश के शासन में नागरिक के
क्या अधिकार होने चाहिये, इन वातों की शिच्चा भारतवासियों को
पश्चिम से ही मिली। उन्नितशील भारतवासी इन्हों विचारों के
आधार पर देश के जीवन का संस्कार करने लगे। किन्तु इन
भारतवासियों की कायापलट हो गयी। ये एक दूसरे ही रंग में रॅगे
हुए थे। इनका उपास्य देन पूर्व नहीं, पश्चिम था। इनमें से अधिकांश
अंग्रेजी भाषा और साहित्य के पण्डित हो खुके थे। आधुनिक
भारतवर्ष की आधार-शिला इन्हीं लोगों ने जमाई है। यही भारतवर्ष
के प्रारम्भिक नेता हैं। राजा राममोहन राय नवयुग के सबसे बड़े

न्मुरु और आचार्य थे। अन्ध-युग के अन्धकार से निकालकर भारत-चर्ष को पश्चिम के ज्ञान सूर्य के दर्शन कराने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त हुआ है।

इस आन्दोलन का सबसे पहला सुफल हुआ, विचार स्वातंत्र्य। भारतवासियों को विश्वास हो गया कि अब लकीर के फकीर बनने से काम नहीं चल सकता। बुद्धि और विवेक के आधार पर ही हमको अपने भावी जीवन का निर्माण करना होगा। इस आन्दोलन का जन्म और प्रचार सबसे पहले बंगाल प्रान्त में हुआ। इसके दो कारण है। एक तो यह कि पहले इसी पर अंगरेजों ने अपना प्रभुत्व जमाया था और दूसरा यह कि मुगल-युग में भी मुस्लिम सभ्यता से इसका बहुत कम सम्पर्क हुआ था। इसीलिए इनको अपने प्राचीन विचार छोइने और पश्चिमी विचार अपनाने में अधिक कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। यही कारण था कि १६वीं शताब्दी के पहले भाग में वंगालो लोग अंगरेजी शिचा और पद्धित पर वेतरह मुग्ध हो गये थे। उनके अप्रगण्य नेताओं का भी यही विचार हो रहा था कि यदि हम अपनी अवनत दशा से उन्नत होना चाहते हैं तो हमारे लिए अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है।

बाधुनिक साहित्य में जो नवचेतना शक्ति प्रकट हो रही है, उसका उद्गम-स्थान योरोप अवश्य है, पर अब वह किसी देश या जाति म बद्ध नहीं है। वह अब समस्त विश्व में फैल रही है। अठारहवी शाताब्दी तक सर्वत्र एक कृत्रिम सभ्यता का काल था। साहित्य की कला का एक विशेष रसिक वर्ग के परितीष के लिए ही विकत्तित हो रही थी। यह बात नहीं थी कि देश की यथार्थ स्थित की ओर लोगों का भ्यान नहीं था! मध्ययुग के अन्त में समाज की जो व्यवस्था थी, उसके प्रति लोगों में असन्तोष का भाव व्यक्त होने लगा था। सुधार की एक भावना भी प्रवल हो रही थी। पर साहित्य में मौलिवता और नवीनता के स्थान में कला की एक कृत्रिमता आ गई थी। भारतवर्ष

में सुगल साम्राज्य का वैभव नष्ट हो गया था और सर्वत्र एक अव्यवस्थाः का अन्य-युग आ गया था। लोग सत्-साहित्य, शिल्प और कला ही नहीं धर्म के मूल सिद्धान्तों को भी भूल बेठे थे। अन्य स्थानों में भी सध्ययुग के आदशों के प्रति लोग संशयालु हो चुके थे। एक नव-आदर्श के लिए सभी में एक व्यग्रता हो रही थी। मध्ययुग के अनत में हिन्दी के किवयों ने किलकाल के जिस प्रभाव का वर्णन किया है, वह किसी न किसी अंश में विश्व के सभी देशों में लिखत हो रहा था।

एक ओर जहाँ सम्पत्ति के साथ विलासिता की वृद्धि हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर दरिद्रता के साथ अनाचार भी बढ़ रहे थे। समाज की व्यवस्था के मूल में भी ऐसे दोष जत्मज हो गये थे, जो जीवन के सभी चित्रों को विकृत कर रहे थे। जनता के हृदय में वेदना की जो ज्वाला प्रकट हो चुकी थी, वह अवरुद्ध होने पर भी प्रवल उच्छ्वासों और निःश्वासों के रूप में वहिर्गत होकर मानो समस्त विश्व को आच्छात्र कर रही थी। समय आने पर उसी ने क्रान्ति की एक प्रचण्ड आँधी का रूप धारण किया। उस क्रान्ति ने उद्योग, व्यवसाय, राजनीति और समाज, सभी की व्यवस्थाओं में आमूल परिवर्त्तन कर दिया। उसी के साथ साहित्य में परिवर्त्तन हो गया।

यह सच है कि एकमात्र वाह्य परिस्थिति से ही विवश होकर जातिः में कान्ति की भावना उत्पन्न नहीं होती। आर्थिक दुरवस्था, पराघीनता. उत्पोड़न और अत्याचार के कारण जाति में शक्ति की एक चीणता. आ जाती है जो उसको अकर्मण्य बना देती है। उस अकर्मण्यता को दुर करने के लिए जाति के भीतर आत्मा की स्फूर्ति होनी ही चाहिए। मनुष्यों के अन्तःकरण में अपनी मुक्ति और विकास के लिए एक प्रवल, प्रेरणा होती है। तभी जाति की प्रसुप्त शक्ति सहसा प्रमुद्ध हो उठती है। फ्रांस में जो राज्यकान्ति सफल हुई, उसके मूल में अन्तःशक्तिः की यही प्रेरणा काम कर रही थी। रुसो ने स्वाधीनता का जो मेंरकः नाद किया, उसने जनता के भीतर उन्मुक्ति के लिए अदम्य कामना' उत्पन्न कर दी। रूसो ने कहा कि मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र होता है, किन्तु वह सर्वत्र पाशों से बड़ है। अतएव सभी वंधनों को छिन्न-भिन्न कर मुक्ति के लिए सारी फ्रेंच जाति व्यय हो गई। क्रांति ने समाज की क्रित्रम मर्यादा को नष्ट कर दिया। उसी के कारण साहित्य में भी मध्ययुग की रीति-व्यवस्था पर आक्रमण हुआ। विकटर छाूगों ने नाट्य-साहित्य की चिर प्रचलित रीति-नीति को नष्ट कर साहित्य के लिए एक नवीन स्वच्छन्द पथ निर्मित किया। गेट ने शेक्सपीयर के पथ का अनुसरण कर मानव-जीवन को सभी च्रमताओं और अच्नमताओं की समीचा कर यथार्थ गौरव को प्रदर्शित किया। वर्ड्सवर्थ ने सभ्यता के कृत्रम जाल को छोड़कर प्रकृति के सरल सौन्दर्य में जीवन की यथार्थ शक्ति का मूल स्रोत देखा।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जो नया आन्दोलन पाश्चारय साहित्य के च्रेत्र में परिवर्तित हुआ, उसके लिए कोई एक नाम देना बड़ा कठिन है। सभी साहित्यकारों की अपनी-अपनी एक पृथक् प्रतिमा होती है। यही नहीं, उनकी अपनी अलग अलग साधना भी होती है। उनकी प्रतिभा और साधना की जो विलच्चणता उनकी कृतियों में प्रकट होती है, उसी से साहित्य में उनका अपना एक विशेष स्थान हो जाता है। साहित्य में कभी एक रूपता नहीं रहती। उसमें भाव-वैचित्र्य, रूप-वैचित्र्य और स्वर-वैचित्र्य के कारण सदैव एक चिर नवीनता और चिर रमणीयता बनी रहती है। यह कहा जा सकता है कि साहित्य कानन के सभी पुष्पों में न वर्ण की एक-पी बमनीयता रहती है और न सौरभ की एक-सी सुमधुरता। फिर भी एक ही युग में जन्म लेने के कारण और जाति के भीतर एव-नी चेतना—शक्ति को प्रबुद्ध बरने के बारण वे सभी एक ही आन्दोलन के नाम से विख्यात है। उसकी दिशेषता भावों की समता नहीं है, रचना-शक्ति का वैच्या है। समाज के भीतर व्यक्ति वा सपना एक स्वय्हन्द

निकास होता है। उसी के कारण मानव-जीवन में चिर वैचिन्य बना
रहता है। उयों ही मनुष्य को अपनी अन्तःशक्ति का ज्ञान हो जाता
है, उयों ही वह कृत्रिम उयवधानों को हटाकर अपनी उस अन्तःशिक्त के
निकास का अनसर पा जाता है, त्यों ही उसकी शक्ति विविध रूपों में
प्रकट होने लगती है। रोमैंटिक मूवमेंट में कल्पना की मधुरता और
विजच्चणता के साथ रचना-शक्ति की विशेष च्चमता और विस्तार भी
है। विश्व-साहित्य में इसी आन्दोलन के कारण एक ग्रुग के भीतर
जितनी अधिक उत्कृष्ट रचनाएँ हुई, उतनी अधिक रचनाएँ अन्य किसी
ग्रुग में नहीं हुई। व्यक्तित्व के विकास की इस साधना में विज्ञान की
अपूर्व उन्नित और उद्योगों का विलच्च विस्तार भी सम्मिलित था।
उसी के साथ स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी अन्य चेत्रों में विस्तृत होने
लगा। शिचा और कला को समीचा में भी स्वतन्त्रता का एक नव
आदर्श उपस्थित हुआ। विज्ञान, साहित्य, कला और स्वाधीनता के
विकास में एक ही शक्ति काम करती रही।

जब तक किसी भी देश या राष्ट्र में स्वाधीनता के लिए अदम्य कामना उत्पन्न नहीं होती, तब तक जीवन के किसी भी चेत्र में उन्नित करने के लिए असकी चमता प्रकट नहीं होती। पराधीनता का भाव केवल राजनीति के ही चेत्र में राष्ट्र को निश्चेष्ट नहीं बनाता, वह धम समाज, उद्योग और व्यवधाय सभी में जड़ता ला देता है। प्राचीनता की ओर लोगों का जो विश्वास हो जाता है, असका कारण यह है कि नवीनतम की ओर चमता के अभाव में उन्हें आशंका होने लगती है। कहा जाता है कि जब अरिस्टाटिल के सिद्धान्तों के अनुसार निर्दिष्ट नाट्य-पद्धित में परिवर्तन किया गया, तब फांस में बड़ा तीन्न मतभेद हुआ। राजनीति के चोत्र में निर्वाचन के समय भिन्न-भिन्न दलों के द्वारा कटु आलोचना और प्रत्यालोचना के स्पर्य भिन्न-भिन्न दलों के द्वारा कटु आलोचना और प्रत्यालोचना के स्पर्य मिन्न-भिन्न दलों के द्वारा कटु आलोचना और प्रत्यालोचना के स्पर्य मिन्न-भिन्न दलों के द्वारा कटु आलोचना और प्रत्यालोचना के स्पर्य पद्धित के परिवर्तन में नहीं हुआ। यह बात अब अरयन्त अपेच्यायीय जान पड़ती है। पर

चस युग में समाज के भीतर स्वतंत्रता की भावना लाने के लिए उसका भी एक महत्व था हिन्दी-साहित्य के त्तेत्र में भी, खड़ी वंली बीर ब्रजमाणा को लेकर कम वाग्युद्ध नहीं हुआ। साहित्य में कोई भी नया परिवर्तन करने के समय दो दल ही हो जाते हैं। एक प्राचीनता का समर्थक होता है और दूसरा नवीनता का। चिरकाल की प्राचीनता क साथ नवीनता का यह विरोध होता ही आया है। प्राचीनता के समर्थकों के पास अनुभृति की अभिन्नता रहती है। जो कुछ हो चुका है, उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशंका की जा नहीं सकती। परन्तु जो नवीनता के समर्थक होते हैं, उनके पास केवल आत्म-विर्वाम की हदता होती है। उसी से उनमें अदम्य उत्साह रहता है। उसी उत्साह के कारण वे किसी भी नव-पथ को स्वीकार करने के लिए ज्या रहते हैं।

 सामाजिक जीवन को हमारे जो संस्कार प्रवल रूप से संचालित कर

रहे हैं, उन पर पाचीनता की ही छाप है। उनकी शक्ति पर संदेह नहीं किया जा सकता। यहाँ कितनी ही विदेशी जातियों का बाक्रमण हुआ। भारतीय जीवन पर उनका प्रभाव भी अवश्य पड़ा, पर उनके द्वारा भारतवर्ष की विशेषता छुप्त नहीं हुई। अपनी उसी शक्ति के कारण भारतवर्ष ने उन सभी को अपने एक ऐसे साँचे में ढाल दिया कि अब उनको पृथक् करना संभव नहीं है। समय-समय पर जो भारतीय साधक और गुरु हुए, उन्होंने उन्हीं बादशों की साधना से जीवन में सभी विषमताओं के भीतर एक समता स्थापित कर दी। कितने ही सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, पर साम्प्रदायिकता की किसी भी भावना ने जातीय-जीवन की एकता नष्ट नहीं की रुचि वैचित्र्य के कारण भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने ऋणु और कुटिल नाना पथों को स्वीकार अवश्य किया, पर उन सभी का यह विश्वास था कि उसी एक में सभी का मिलन होता है। सभी नदियाँ जैसे एक ससुद्र में ही जाकर विलोन होती हैं, उसी प्रकार भारत की समस्त साम्प्रदायिक भावनाएँ उसी एक की प्राप्त में विलीन हो जाती हैं।

भारतीय संस्कृति और कला

एक विशे का कथन है कि कला उसे कहते हैं जिसके कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है। इस दृष्टि से कला के दो मेद किये जा सकते हैं—एक उपयोगी कला और दूसरी लिलत कला। उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और लिलत कलाओं के द्वारा उनके अलौकिक आनंद की सिद्ध होती है। उनका यह भी कथन है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़तो हैं और उनका सींदर्य शान भी बढ़ता है। मनुष्य को अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुन्दरता का आविभाय करना पड़ता है। कुछ कलाए नेत्रेन्द्रिय के सन्तिकर्प से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और कुछ अवणेन्द्रिय के सन्तिकर्प से। काव्य में अर्थ की रमणीयता प्रधान गुण है। और नाद की रमणीयता गीण। लिलत कलाओं में सब से केंचा स्थान उसी का है।

इस सम्बन्ध में कितने ही विशों का विश्वास है कि जद मनुष्य प्रमृति के सौंदर्य-विकास से मुख्य हो जाता है तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेण्टा करता है। इसी सौंदर्य-लिप्सा से साहित्य की सुष्टि होती है और कला का विकास। परनत इसके विरद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम मीमा पर पहुँच जाता है तब उसकी सौन्दर्यानुभूति और मौन्दर्योगभोग की शक्ति का हास नही होता, उल्टे उसकी वृद्धि ही होती है, तब ऐसी अवस्था में, साहित्य और बला की ख्व उन्निति होनी चाहिए, परन्त यह बात देखी नही जाती। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मिलन हो जाता है और बला श्रीहत। जर्मनी के एक जीव-तत्व-विद्यारव वा कथन ए कि जो जाति उभ्यता वी निम्नतम क्षेत्री में नहती है, वह

प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अमिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सुष्टि होती है। यह देखा गया है कि मन्ध्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी। जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा तब कला में भी सरलता आने लगेगी। ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-रयों मनुष्य-जीवन जटिल होता है. साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव-जीवन से पृथक कर देने पर कला का महत्व नहीं रहता। एक विज्ञ का कथन है कि सौन्दर्यानभृति और सौन्दर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव-जीवन की उत्पत्ति के साथ ही है। कला की उन्नति के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्रय चाहिए। सौन्दर्य के उपभोग का सामर्थ्य तभी होता है जब चित्त-चृत्ति स्वच्छंद रहती है। कला की छन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। कला में मनुष्य अपनी कर्तव्य-शक्ति प्रकट करता है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बद्ध होती है, उसकी चित्त- हित का स्वातंत्र्य भी नष्ट हो जाता है, उसकी मानसिक शक्ति भी कुण्डित हो जाती है। विजय की भावना से उदीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है तब वह प्रकृति के ऊपर अपना कर्तव्य प्रकट कर देना चाहता है। तभी वह चित्रों पर अपने अतःकरण की छाया अंकित कर एक नवीन सृष्टि करता है। वह ध्वनियों की गति निश्चित कर संगीत के द्वारा अपनो उस अब्यक्त भावना को व्यक्त करता है। वह पत्थर और सिट्टी के मेल से एक विशाल भवन निर्मित कर अपनी महत्वाकांचा को पूर्ण देखना चाहता है। कला मनुष्य की अनन्तशक्ति का परिचय देनेवाली है।

हिन्दू-शास्त्रकारों ने कला के ६४ भेद वतलाये हैं। उनमें एक -नृत्य-कला भी है। नृत्य-कला की उत्पत्ति का मुख्य कारण है -सनुष्य की मुख-लिप्सा। अंग-संचालन से समी जीवधारियों को स्वाभाविक व्यानन्द होता है। कहा जाता है कि मेघो की ध्विन सुनकर मयूर नाचने लगते हैं। परन्तु यह विशेषता सिर्फ मयूरों में ही नहीं है। सभी जीवधारियों को उछल कूद करने बौर दौड़ने-भागने में सुख होता है। जीवधारियों के शरीर में जो प्राण-शक्ति है वह सदैव बाहर छद्गत होने की चेष्टा करती है। जब वह शक्ति चीया हो जाती है तब शरीर निस्तेज हो जाता है बौर फिर उछलने-कूदने में बानन्द नहीं बाता। बालकों में कीड़ा करने की जो चाह रहती है छसका कारण यही है। छनके छंग-अंग फड़कते रहते हैं। चुपचाप तो उनसे बैठा ही नहीं जाता। इससे साफ प्रकट होता है कि मनुष्यों को अग संचालन में एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है बौर छसी मुख की हृद्धि के लिए नृत्य-कला की सृष्टि हुई है।

हिन्दू-जाति ने कला-कौशल में जो उन्नित की है वह धार्मिक भाव की प्रेरणा से। नृत्य-कला की उत्पत्ति भले ही स्वामाविक सुख-लिप्ना के कारण हुई हो परन्तु उसकी उन्नित का कारण धार्मिक भाव है। आजवल असभ्य जातियों में भी नृत्य धार्मिक उत्पवों में ही होते हैं। हिन्दू-जाति में नृत्य के प्रचार के विषय में जो कथा प्रचलित हैं उसने उसकी घार्मिकता सिद्ध होती है। वहा जाता है कि बद्धा जी ने एक बार स्वर्ग में एक नाटक का अभिनय वराया। उसमें महादेव जी ने एक बार स्वर्ग में एक नाटक का अभिनय देखकर महादेव जी बड़े प्रमन्त हुट। परन्तु उसमें उन्होंने नृत्य का समावेश कराना चाहा। ब्रह्मा जी भी इसके उद्दम्मत हुए। तब महादेव जी की बाशा से तप्हु ने भरत मृनि को नृत्य पे सब भेद बत्ताये। ये नृत्य उपहु से प्राप्त हुए थे, बत: इनका नाम ताप्हन पहा।

माचीन वाल में भारतवर्ष कपने वला वौद्यल के लिए विस्पात था। यहाँ सभी वलाएँ समित वी चरमावस्था वो पहुँच गई थी। मृत्य-वला वी भी कपनी समित हुई थी। बड़े-बड़े राजे-महाराखे इस बला के एक्टपोपव थे। इतना ही नहीं, समने करतापुर में भी मृत्य वला वा अच्छा मान था। महाभारत में लिखा है कि अर्जुन राजकुमारी उत्तरा को नृत्य-कला की शिक्षा देते थे। कालिदास के मालिवकाग्निमित्र नाटक में मालिवका को नृत्य कला-कौशल वत्तलाया गया है।

प्रकृति के साहचर्य से ही मनुष्य ने संगीत की कला प्राप्त की है। प्रकृति स्वयं संगीतमयी है। उसमें स्वयं संगीत की मधुरता है। भिन्त-भिन्न ऋतुओं में स्वर-लालित्य के साथ भाव माधुर्य है। यही नहीं, दिवस के मिनन-भिनन समयों में प्रकृति का संगीत-वैचित्रय है। यदि प्रकृति में वैचित्रय और चिर नवीनता का मात्र न रहता तो संगीत की उत्पत्ति ही न होती। इन सब को अपने मानसिक जगत में लाकर मकृति ने भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुकृत अपने भिन्न-भिन्न आनन्दों की अनुभूतियों को संगीत के द्वारा व्यक्त किया है। संगीत के तीन स्पष्ट मेद किये जा सकते हैं —शब्द-संगीत, स्वर-संगीत और गति-संगीत । प्रकृति के अपूर्व सींदर्य से वशीभूत हो मनुष्य ने अपने प्रसन्नता-सूचक भाव को मन से, वाणी से और अंग संचालन से प्रकट किया। उतका भावावेश वाणी में प्रकट हुआ और गति में भी। वाणी में भाषा के शब्दों में ही भाव साकार होते हैं। इसी से काव्यों में शब्द-संगीत की रचना होती है, गानों में स्वर-संगीत की सृष्टि होती है सौर नृत्य में गति-संगीत की अभिव्यक्ति होती है। तीनों के मूल प्रकृति में ही हैं। वृक्षों की मर्भर ध्वनि, पित्तियों के कलरत्र तथा अन्य पशुओं के स्वर वैचित्रय में जो माधुर्य है, उसी के आधार पर मनुष्य ने अपनी भाषा में माधूर्य ला दिया, वह काव्यों में प्रत्यन्त होता है, कंठों में जो स्वर-लालित्य ला दिया, वह गान में उद्भूत होता है और जड़-पदार्थ में जो ध्विन की मृद्लता है, उसी को वह अपने हस्त-कौशल से वादा-यंत्रों में प्रकट करता है। भावों को जल्पत्ति होने पर शारीरिक चेन्टाओं के द्वारा जो अनुभव प्रकट होते हैं, उन्हीं से गति-संगीत का निर्माण ह्या है।

यह तो स्पष्ट है कि प्रकृति के साथ मनुष्य का जो साहचर्य है, उसी से संगीत का सद्भव होता है। प्रकृति में जो परिवर्तनशीलना है चही मनुष्य के मानसिक जगत में भी है। इधर प्रकृति में वसंत का आगमन हुआ, उधर मनुष्य में मृद्र भावीं का चंचार हुआ। मनय समीर की चंचल गति मन को अस्थिर कर देती है। शरीर में आप से बाप स्फ़ितिं बा जाती है। बाप से बाप बंग फड़कने लगते हैं, बाप से आप हम भौरों को तरह गुनगुनाने लगते हैं। कोयल का पञ्चम स्वर हमारी भी वाणी को खीच ले जाता है। इसी तरह वर्षा बाल में मेघ की गम्भीर घटा के साथ जो स्यामलता वन में बा जाती है. उनसे सत्ष्य के मन में भी एक उत्मुकता जाग उठनी है। निशा की निस्तव्यता में मेघों की मन्द-ध्वनि के साथ मेदकों का गुब्द भी उत्सुकता को बढ़ा देता है। सपूरी का पड्ज स्वर कितना सुसपुर हो जाता है, शुरत्-काल में कमलों का विकास होता है। उन समय पृत्-पित्तयों के आनन्द में हम भी सिमलित हो जाते हैं। इस प्रवार भिन्न भिन्न ऋतुओं में हमारे मन की भिन्न-भिन्न पंज्याएं हो जाती हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं के लिए भिन्न भिन्न रागी का निर्माण वर उनमें तदनुक्त सनिसिक उल्लास की संभव्यति की गई है। हमी तरह प्रातःवाल की सञ्जीतमा और स्कृति सध्याह बाल की व्यवसा और एकाप, सःयंताल का सबसाद और अधीरता तथा निधानाल की शांति और प्रेमपूर्ण प्रतीका को प्राट करने के किए भिन्तर्गमन्त्र रागनियो की रचना हुई। हिन्दु-तंत्र त छान्त्रदों का नधन र्रे कि स्वयं महादेव जी ये। हुख के दोच रागी की क्लांक नुर्दे है। जब राग पार्वती जी के सुख से बद्गम हुआ है। प्रकृति और पुरण के साहचर्य से ही संगीत को उत्पत्ति होती है। संगार के हुर्त् देश में व्यस्त पुरुष से क्षपने उत्पाह, क्षसंग, दीति, जन्तान, और अधैयं नी भैरव, हिण्डोल, दीपव, धी कौर सेघरामी में प्रवट विद्या है होर नार के भीतर प्रेम की प्रतीचा में विष्ठल कारी के वियोग की वेदका अरे भक्ति की शान्ति से पूर्ण एक ही राग मालकोस की सृष्टि की है। यही इस सिद्धान्त का यथार्थ रहस्य है। छः ऋतुओं के अनुकूल ऐसे छः राग हैं, उसी तरह दिन के मिन्न-भिन्न मानों के अनुकूल मिन्न-भिन्न रागनियों का निकास हुआ है।

यादिकाल से लेकर आज तक हिन्दू-शास्त्र का विकास होता गया है। यह कहा जाता है कि स्वयं भगवान शिव जी ने नारद, तुम्बर और रम्मा को शिचा देकर संगीत-शास्त्र का विशेष प्रचार किया और रागों के काल और रस निश्चित किए। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में संगीत-शास्त्र की वड़ी महिमा थी। पुराणों और महामारत में यह बात प्रसिद्ध है कि श्रोकृष्ण और अर्जु न संगीत में कितने चतुर थे। यही नहीं, बृहन्नला का रूप धारण कर सर्जु न ने राज-कन्याओं को भी नृत्य और गान की शिवा दी। 'मालविकाग्निमन' नामक नाटक में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि बौद्धकाल में राज-कन्याएँ संगीत, नृत्य तथा नाट्य-कला में दत्तता प्राप्त करने का प्रयत्न करती थीं। बौद्ध-कालीन अजन्ता की गुफाओं में नृत्य में निरत जो चित्र अंकित किये गये हैं, उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अंग-अंग से शिक्त निकल रही है। उनकी भिन्न-भिन्न मनोरम गतियों से भिन्न-भिन्न छन्दों का बोध होता है। ऐसा जान पड़ता है, मानो गित-संगीत ही मूर्तिमान हो गया।

प्राचीन शिल्प-शास्त्रों की ओर भी विद्वानों का घ्यान आकृष्ट हों रहा है। अनुसन्धान करने से जो शिल्प-शास्त्र विषयक प्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उनसे तथ्य संग्रह कर प्राचीन भारतीय कला का रहस्य जानने की चेष्टा की जा रही है। अभी तक जिन ग्रन्थों की आलोचना की गई है उनमें स्थापत्य और तक्षण कला की ही वार्ते हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि जब तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ तब तिब्बती-भाषा में कितने ही संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद हुआ । छन पुस्तकों के संग्रह काजूर और तंजूर ग्रन्थ-माला के नाम से प्रसिद्ध हैं। चित्र-लच्या नामक एक ग्रंथ की गणना तंजूर ग्रन्थ-माला में की जाती है। मृल संस्कृत-ग्रन्थ में जान पड़ता है, चित्र लच्या में, तीन अध्याय हैं। अधिक अध्याय रहे होंगे। तृतीय अध्याय में लिखा गया है कि दूसरे अध्याय में नयन-भंगी का पूरा विवरण दिया जायगा। कुछ भी हो हमें जो मिला है उसी से संतोप करना पड़ेगा। पहले अध्याय में चित्र-विद्या और चित्र-लच्या ग्रन्थ की पार्थिव उत्पत्ति आलोचित हुई है। दूसरे अध्याय में चित्र विद्या की देवी उत्पत्ति वर्णित है। तीसरे अध्याय में चित्र विद्या की देवी उत्पत्ति

पहले अध्याय में एक कथा वर्णित है, जिसमें यह वतलाया गया है कि पृथ्वी पर चित्र-विद्या की उत्पत्ति कैसे हई। प्राचीन काल में भयजित नामक एक वड़ा यशस्वी राजा हुआ था। वह वहा धार्मिक था। उसके राज्य में प्रजा-गण सुख-सम्पन्न थे। अपनी तपरचयां के बल से वह राजा देवता से भी अधिक शक्तिशाली हो गया। एव वार एक ब्राह्मण ने आकर राजा से कहा, हे राजन आप के राज्य में अकाल मृत्यु कैसे हुई? जान पड़ता है, आप ने सधर्म को साधय दिया है, तभी मेरे बालक की मृत्यु हुई है। यदि आप ब्राह्मण पर अनुराग रखते हों तो आप यमालय से मेरे पुत्र को लौटा लाइये। राजा ने त्रन्त ही अपने तप के प्रभाव से यम को बुलाया और जनदो बाहरण का पुत्र लौटा देने के लिए कहा। यम ने सस्वीकार विया। तय दोनों में युद्ध होने लगा। जब यम पराजित होने लगा तब बहार ने आवर उनका युद्ध बन्द कराया। राजा को सन्तृष्ट करने के लिए बसा ने कहा"""जीवन और मृत्यु कर्स-पत्न के अनुसार ही है। यस इस नियम का छल्लंघन नहीं कर सकता। तम द्राह्मण-पुत्र की एक प्रतिकृति बनाओ । मैं उसे जीवित कर दुँगा ! राजा ने चित्र दन!दा और हहा। ने उसे सजीव वर दिया। इसके बाद हहा। ने वहा हमने नग्न प्रेतों को जीत लिया, इसलिए बाज से तःहारा नास नग्न-जित हुआ। हमारे प्रभाव से हमने झाह्यण-पुत्र वा चित्र संवित विया

है। इस जीवलोक में यह पहला चित्र है। इस विद्या के द्वारा संसार का वड़ा कल्याण होगा और उसी से तुम भी संसार में पूजनीय होगे। बस यहीं कथा समाप्त हो गई। नग्नजित नामक राजा का उल्लेख अन्य प्राचीन प्रन्थों में किया गया है। शतपथ बाह्मण में एक गान्धार-राज्य नग्नजित का नाम आया है। जैनसूत्र में भी गान्धार-राज नग्नजित का उल्लेख है। महाभारत में भी कई स्थानों में यह नाम आया है। परन्तु चित्र-लज्ञणकार नग्नजित से इनका कोई सम्बन्ध है या नहीं, -यह अनिश्चित् है।

मंगलाचरण में यह कहा गया है कि चित्र-लच्चण में विश्वकर्मा, ध्रह्लाद और नग्नजित इन तीनों के निर्देष्ट लच्चणों का संग्रह है। -लाजफर का अनुमान है कि इन तीनों ने अपने-अपने नाम से तीन भिन्न भिन्न शिल्प पद्धतियाँ प्रचलित की हैं। परन्तु यह अनुमान चित्र लच्चण में पुष्ट नहीं होता। ब्राह्मण-पुत्र का चित्र अंकित करने के बाद नग्नजित ने ब्रह्मा से पूछा कि इस चित्र-विद्या की उत्पत्ति कव हुई और भिन्न-भिन्न चित्रों के लच्चण और ग्रंग-प्रत्यंग का माप क्या है। ज्रह्मा ने कहा—सबसे पहले वेद और यज्ञ की उत्पत्ति हुई। चेत्य-निर्माण में चित्रांकण आवश्यक है। इसीलिए मैंने चित्र-विद्या का भचार किया। सबसे पहले मैंने ही मनुष्य का चित्र अंकित किया है। इसके बाद ब्रह्मा ने चित्र-विद्या की बड़ी प्रशंसा की और अन्त में कहा कि तुम देव-शिल्पी विश्वकर्मा के पास जाओ। वह तुम्हें चित्रों के लच्चण, नियम और परिभाषा बतला देगा। तब नग्नजित ने विश्वकर्मा के पास जाकर उनसे शिल्पा ग्राह्मा की। इससे तो यही प्रकट होता है कि नग्नजित विश्वकर्मा का शिष्य-मात्र है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि नग्नजित के चित्र-लत्गण का रचना-काल किस शताब्दी में है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छठी शताब्दी कि पहलें उसकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। वराहिमिहिर की वृहत् संहिता में दो स्थानों में उसका उल्लेख किया गया है। चित्र-लक्षण के प्रथम अध्याय में जो कथा वर्षित है एतना सार्गश्च पहले दे दिया गया है। इस कथा को विश्वकमां ने नरनजीत ने नहा था। विश्व की सृष्टि करने के बाद सृष्टि की कल्याण-लामना ने हका ध्यान मन्त हुए। एनके ध्यान में महादेव, विष्णु इन्द्र आदि देवताराण भी विव्य प्रभा ने युवत हुए और उन्होंने अपने-अपने प्रभाव के धीतंत्रत मृत्तिं प्रकट की. एनकी मृत्तियों ने मिल्ल-मिल्ल हुए धारण विया और वे व्यक्तालंकारों से शोभित हुईं। मिल्ल मिल्ल हुए में देवताराण स्वयने-अपने चित्र देखकर यहे प्रसन्त हुए। इक्षा ने ब्या-च्यव स्वयने-अपने चित्र देखकर यहे प्रसन्त हुए। इक्षा ने ब्या-च्यव इन्ही मृत्तियों को प्रजोपहार देकर संसार इतार्थ होगा। देवताओं ने कहा—तथास्तु।

तृतीय अध्याय में समस्त अंग-प्रत्यंग का मान विया गरा है। एक स्थान में चक्रवर्ती पुरंप के रूप का वर्णन ये। विया गरा है। गेर- युत्त आकाश में चन्द्र चक्रा सुन्दर है। यदि उनके प्रभा-महरूल-परिशृत कर से विसी की हलना की जा नवती है तो चत्रवर्ती गरित के साथ। इसिलिए उनके श्रारीर के चारी और प्रभा मण्डल चिक्त है। उनके भ्र-सुगल सुन्दर होते हैं। सामिया उनके और ब्रह्म होते हैं। सामिया उनके और ब्रह्म होते हैं। सामिया उनके कीर ब्रह्म होते हैं। सामिया उनके कीर ब्रह्म होते हैं। सीर औष्टाधर दिनम। बन्द मोती से समान उत्तर होते कोर से स्थानाश के समान नीलमा लिए तुए। बन्द शहा के नगान होना चाहिए और उद्यान सामिया हारवा हुए होना चाहिए।

नहीं रहेगी। उनको नवयुवक के रूप में दिखलाना पड़ेगा। उनका शरीर सिंहोदर के समान दीर्घ-विस्तृत रहेगा—ये लच्चण भारतीय और तिब्बतीय चित्रों में पाये जाते हैं।

चित्र-लच्ण-कार ने नेत्रों के सम्बन्ध में जितना लिखा है जतना और किसी अंग के विषय में नहीं। चित्र-लच्चण में आकार भेद से पाँच प्रकार के चच्चु माने गये हैं। भोगी के चच्चु, धनुराकृति होते हैं और सर्वसाधारण के जरणलाकृति। राजा, रमणी और प्रेमिका के चच्चु मत्स्योदराकृति होना चाहिए। मोह और क्रीध में चच्चु कीड़ के सहस्य होते हैं; भय और क्रन्दन में पद्मपत्राकृति। चच्चु के समान भ्रू के भी प्रकार भेद बतलाये गये हैं। प्रशान्त व्यक्ति के भ्रू को अर्धचन्द्राकृति और नर्तन-शोल अंकित करना चाहिए। क्रोधाविष्ट और क्रन्दनशील के भ्रू धनुराकृति होते हैं। इसी तरह के और भी कितने लच्चण बतलाये गये हैं।

चित्र के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है। नग्नजित चित्रलच्चण शास्त्र के प्रवर्तक कहे गये हैं। महाभारत में गांधारराज नग्नजित का उल्लेख है। यदि ये दोनों एक ही हों तो गांधार-राज्य में प्राचीन चित्र-कला का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ग्रीनवेल साहय का कथन है कि गांधार मृतियों में चित्र-कला का इतना अधिक लच्चण मिजवा है कि यह कल्पना की जा सकती है कि गांधार में पहले कोई चित्रकला प्रचलित थी। तिब्बत के धार्मिक चित्रों पर उसी का प्रभाव पड़ा है। खोटान और सध्य एशिया में जो चित्र पाये गये हैं उनमें भी गांधार-शिल्प का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

चीन देश में प्रसिद्ध है दो खोटनों चित्रकारों ने कोरिया बौर चीन में भारतीय चित्रकला के बादर्श प्रचलित किये थे। कुछ भी ही, इसमें सन्देह नहीं कि चित्र लच्च्या से भारतीय चित्रकला की महत्ता तथाः विशेषता प्रकट होती है। अजन्ता के गुफा-मन्दिरों में भारतीयों की अपूर्व कला प्रदर्शत हुई है। एक विज्ञ ने लिखा है—अजन्ता की पहली गुफा में गीतम बुद्ध के चित्र से शान्ति और गंभीरना की एक अजीव कलक निकल्ती है। यात्रियों और दर्शकों के मन में हस हर्य को देखकर अनिदंचनीय भाव उत्पन्न होता है।

इसरी गुफा में भी एक चित्र को देखकर गहरी देवना का अनुभव होने लगता है। एक सुन्दर स्त्री अपने खुटनों को टेके किर मुझाये येठी है। उसके बाद वह कोधी पित के चरणों पर लोटनी है और वह तलवार लेकर उसे मारने के लिए तैयार है। स्त्री पित की आशा पूरी करने के लिए गिरती हुई तलवार की मतीका करती है। यह हर्य सचसुच करणाजनक है। नहीं रहेगी। उनको नवयुवक के रूप में दिखलाना पड़ेगा। उनका शरीर विहोदर के समान दीर्घ-विस्तृत रहेगा—ये लच्चण मारतीय और तिब्बतीय चित्रों में पाये जाते हैं।

चित्र-लच्चण-कार ने नेत्रों के सम्बन्ध में जितना लिखा है उतना और किसी अंग के विषय में नहीं। चित्र-लच्चण में आकार भेद से पाँच प्रकार के चच्चु माने गये हैं। भोगी के चच्चु, धनुराकृति होते हैं और सर्वसाधारण के उत्पलाकृति। राजा, रमणी और प्रेमिका के चच्चु मत्स्योदराकृति होना चाहिए। मोह और कोध में चच्चु कीड़ के सहस्य होते हैं; भय और कन्दन में पद्मपत्राकृति। चच्चु के समान भ्रू के भी प्रकार भेद बतलाये गये हैं। प्रशान्त व्यक्ति के भ्रू को अर्धचन्द्राकृति और नर्तन-शोल अंकित करना चाहिए। कोधाविष्ट और कन्दनशील के भ्रू धनुराकृति होते हैं। इसी तरह के और भी कितने लच्चण बतलाये गये हैं।

चित्र के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है। नग्नजित चित्रलच्चण-शास्त्र के प्रवर्तक कहे गये हैं। महामारत में गांधारराज नग्नजितका जल्लेख है। यदि ये दोनों एक ही हों तो गांधार-राज्य में प्राचीन
चित्र-कला का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ग्रीनवेल साहव का कथनहै कि गांधार मूर्तियों में चित्र-कला का इतना अधिक लच्चण मिजवा
है कि यह कल्पना की जा सकती है कि गांधार में पहले कोई चित्रकला
प्रचलित थी। तिव्यत के धार्मिक चित्रों पर उसी का प्रभाव पड़ा है।
खोटान और मध्य एशिया में जो चित्र पाये गये हैं उनमें भी गांधारशिल्प का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

चीन देश में प्रसिद्ध है दो खोटनों चित्रकारों ने कोरिया और चीन में भारतीय चित्रकला के बादर्श प्रचलित किये थे। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि चित्र लच्च्या से भारतीय चित्रकला की महत्ता तथा। विशेषता प्रकट होती है।

में खड़े हुए दिखाये गये हैं। नीचे और सम्बन्धी उस राजकुमारी के जीवन की आशा खोये बैंठे हैं। एक रमणी अपना मुँह अपनी बाहों कि छिपा कर रो रही है।

बौद्ध युग में मूर्त्ति-निर्माण कला की निशेष उन्नति हुई। बुद्धदेवः के साथ-साथ हिन्दू देवों और देवियों की प्रतिमाओं में भी कला की एक अपूर्व कुरालता विकसित हुई। गांधार का शिल्प-कौशल अशोक-कालीन कला के प्रभाव से रहित है। गुप्त-युग के जो बुद्ध-मस्तक-पाये गये हैं, उनमें जो कला-कुशलता है, वह गांधार-युग की मूर्तियों में नहीं है। सच पूछिये तो परवर्ती युग की शिल्प-कला में जो कला-चात्र्य देखने में बाता है उसका गांधार युग के शिल्पियों में बहुत कुछ समाव है। आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी प्राचीन बौद्ध मूर्तियाँ गांधार-शिल्प-पद्धति की ही बनी मिलती हैं। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के पूर्व की बुद्धदेव की कोई मूर्ति नहीं पायी जाती, इसके पहले केवल प्रतीकों में बुद्ध का थोड़ा-बहुत अस्तित्व पाया जाता है। भारतीय शक राजाओं के समय के गांधार-काल एवं पश्चिमी एशिया के शिलिपयों की पाषाण मृर्त्तियों में अधिकतर यूनानी मृर्त्ति निर्माण-कता का ही निदर्शन देखने में आता है। उसे हम प्रांतीय रोमन-शिल्प-कला का नमूना भी कह सकते हैं। उस समय की कितनी ही मृत्तियाँ पाश्चात्य पद्धति के अनुसार निर्मित हुई है, यह जनके देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। इन पाषाण-मूर्त्तियों की रचना के मूल में यूनानी प्रभाव विद्यमान् है, यह बात फ्रांसीसी विद्वान् फूरो ने निर्दिष्ट की है। पर इनमें जो भारतीय भाव विद्यमान् है, वह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बुद्ध-मस्तक में जो ध्यान-तन्मयता और आध्यात्मिक एकनिष्ठता का परिचय पाया जाता है वह तो सम्पूर्णतः भारतीयः भावना है।

बौद्ध मूर्तियों की सभी विशेषताएँ उल्लेख-योग्य हैं। एक उनकी पगड़ी की ही वात लीजिए। बौद्ध-मूर्तियों में यह वस्तु अपना विशेषः

स्थान रखती है। सम्भवतः यह उस समय में दैहिक लक्षणों में गिनी जाती थी। मूर्त्तियों में इसका कब से प्रचार हुआ, इसको जानकर कीतृत्ल उत्पन्न होता है। प्राचीन काल में यदि किसी वालक का मस्तक जनम के समय पगड़ी के आकार का होता था तो ज्योतिषिलोग यह स्थिर करते थे कि वह बालक भविष्य में महापुरुष होगा। इस सम्बन्ध में फूरो का यह मत है कि गान्धार-शिल्पियों ने बुद्ध का मस्तक एकदम-संन्यासियों जैसा सुण्डित नहीं बनाया, किन्तु भारतीय रीति के अनुसार स्त्री-जाति के सदृश्य सकेश वनाया था। कुछ काल के जपरान्त बौद्ध-शिलिपयों को यह रीति उचित नहीं जँची। केश रखे जायँ या नहीं, इन दोनों वातों के सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो गया। अन्त में छोटे-छोटे दिच्या और को मुझे हुए कुंचित केश रक्खा जाना निश्चित हुया। यह आकृति महापुरुष का एक लक्त्य ठहरादी गई। इस प्रकार के केशों का प्रचलन बहुतेशी बौद्ध मृत्तियों में पाया जाता है। इसके बाद धीरे-धीरे जुड़े का प्रचार हुआ, जिसने पुनः परिवर्त्तित होकर पगड़ी का रूप धारण कर लिया। पूरो के मत से गान्धार शिल्य-कला में पगड़ी इस रूप से परिवर्त्तित नहीं हुई थी। यह वात सत्य भी है, क्यों कि अनेक गांधार-मर्शियों के मस्तक पर केवल ऐक शिखा या जुड़ा ही पायी जाती है। परनत पर्श का मत सभी जगह ठीक नहीं उतरता, क्यों कि ऐसी कितनी हो मुर्त्तियाँ मिली हैं जिनके मस्तक पर पगड़ी की अपेद्या कुंचित केश अधिक लम्बे रुप में भूमते हुए पाये जाते हैं। पगड़ी के प्रचलन की फूरो पर युग की वात समक्तते हैं। यह वात ठीक नहीं है। उसका प्रचार गान्धार-युग के बहुत पहले से था । सम्भवतः पगड़ी की प्रथा बुद्धमूर्त्ति का प्राचीन लदण है। एक बुद्ध-मस्तक से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि पगड़ी का प्रचलन गान्धार में पहले से ही विद्यमान था। इस मस्तक की दोनों भौंहों के मध्य में ऊर्ण-रेखा या संयुक्त रोम-रेखा दीख पड़ती है। इस रेखा ने धीरे-धीरे मूर्त्ति में: विन्दी के सहश्य एक उच्च बृत्ताकार धारण किया है, मानो सीन्दर्य-चर्द्धन का एक परम साधन हो गया हो। किसी-किसी मूर्त्ति में इस रेखा की जगह बहुमूल्य रत्न जड़ दिये गये हैं। पुरी श्री जगन्नाथ जी की मूर्त्ति के मस्तक में ऐसा रत्न जड़ा हुआ है। मारत के अनेक प्रदेशों में स्त्रियाँ अपने मस्तक में जो गोल विन्दी अथवा टिकुली देती हैं और शिव धादि हिन्द-देवताओं के मस्तक में जो तीसरा नेत्र दिखाई पड़ता है वह पूर्वों क रेखा के स्थान में ही है। इस प्रकार मूर्त्ति के मस्तक में इस रेखा के अंकित करने के प्रचलन का पता लगता है।

खपर्यु क बुद्ध-मस्तक में एक बौर भी विशेषता है। इसके कानों के नीचे का हिस्सा कुछ लम्बा फूल रहा है। इसमें शिल्पी का कोई विशेष उद्देश्य नहीं है। आजकल भी भारत की अनेक जगहों में स्त्री और पुरुष कानों में इतने भारी सोने के कुण्डल पहनते हैं कि उनके कानों के नीचे का भाग फूल सा पड़ता है। सिद्धार्थ संन्यासी होने के पूर्व इस प्रकार के कुण्डल निश्चय ही पहनते रहे होंगे। इसी -से उनके कानों के नीचे का भाग लम्बायमान बनाये गये हैं।

एक विष्णुमूर्त्ति है। ग्रप्तकालीन शिल्पियों में कला नैपुण्य था।
- इस युग के भारतीय शिल्पी यूनानी शिल्पियों के समकत्त्र थे। गुप्तयुग
- साधारणतः तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य तक माना
जा सकता है।

एक निष्णु मूर्चि के तीन मस्तक हैं—वीच का मस्तक मनुष्य का, वाहिनी तरफ का सिंह का और वार्यों तरफ का वाराह-मस्तक है। बीच वाले मस्तक पर एक वड़ा-सा सुकुट है, कानों में सुन्दर कुण्डल लटक रहे हैं, गले में हार और हाथों में कड़े पड़े हुए हैं। वार्यें कः भे पर एक पतला हार-सा है जो सम्भवतः यज्ञोपनीत है। पहले यज्ञोपनीत अंकित करने की चलन नहीं थी। उसका प्रचार पीछे से हुआ है। इसी से पीछे की वनी मूर्चियों में यज्ञोपनीत मिलता है। प्राचीनकाल में जो निशिष्ट लोग समाज की मंगल-कामना के नती रहते थे, ने संबे-

पर छत्तरीय अर्थात् दुपट्टे का व्यवहार करते थे। इसका इन्हें विशेष
प्रयोजन पड़ता था—अधिकतर देव-पूजा, पितृ-कर्म और अतिथि की

अभ्पर्थना के समय। जो लोग सदैव सत्कार्य में नियुक्त रहते थे उन्हें
छत्तरीय का व्यहार सुविधाजनक नहीं समक्त पड़ा। इससे छत्तरीय के
बदले वे अभिमन्त्रित कई तार के सृत्र धारण करने लगे इस प्रकार
यशोपवीत का प्रचलन आरम्भ हुआ। पहले सभी ब्राह्मण यशोपवीत
नहीं धारण करते थे। प्राचीन पुस्तकों में इसके सम्बन्ध में यथेष्ट प्रमाण
मिलते हैं। सम्भवतः इसीसे प्राचीन मूर्तियों में यशोपवीत का अभाव
है। हां दसवीं शताव्ही के पीछे जो सब मूर्तियां बनी हैं उनमें
यशोपवीत का प्रचलन मिलता है। सिहल में ब्रजपाणि की मूर्ति
पायी गई है। वह इस सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप है। प्राचीन देवताओं
और राजाओं की मूर्तियों में उपवीत के बदले स्वर्ण की मालाओं
का प्रचलन देखा जाता है और संन्यासियों की मूर्तियों में केवल गले
में सूत की प्रनिथरों दिखाई पड़ती हैं। यशेपवीत की ब्रह्मणंड माला
के रूप में परिवर्तित हो गई थी।

विष्णुमृत्ति के अन्यान्य आभूषणों में दोनों हाथों के ऊपर की ओर एक-एक बहु-रत्न जिटत हार पड़ा हुआ पाया जाता है। इससे वनमाला का निर्देश होता है—इस मिंहा में मधुरा के कृष्ण का विशेष भाव विद्यमान् है। मूर्ति में चार भुजाएँ हैं। इस प्रकार की विष्णुमित्ता और काश्मीर एवं कुल्लु में प्राप्त विष्णुमृत्ति के साथ बौद्ध देवता मरीचि (जो उदीयमान स्वयं के प्रतिनिधि माने जाते थे) का यथेष्ट साहश्य है। मरीचि के भी तीन मस्तक थे। उनमें से एक शुक्रस्मुख विष्णु के बाराह-अवतार एच दूसरा सिंहमुख उनके नृसिंह अवतार का निर्देश करता है। अथवा तीनों मुख सूर्य के प्रभात, मध्याह और अपराह्मकालिक तीन मृत्तियों का परिचय देते हैं, क्यों कि सूर्य से विष्णु देवता की अत्यधिक सिन्नकटता है। वेद में विष्णु सूर्य का ही दूसरा नाम बताया गया है।

विष्णु-मूर्ति का कन्धा चौड़ा ओर कमर सिंह की-सी, यह भारतीय आदशों से पूर्णतया गठित है। इसका शरीर मांसल, हद और सुपुष्ट है। गुतयुग के अन्यान्य प्रभाव भी इसमें विद्यमान् हैं। उस समय की शिल्पकला एवं प्रतिमा-निर्माण विद्या का एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

दसवीं शताब्दी में भारतीय शिल्पी अपना पूर्व गौरव खो वैठे थे। केवल प्रतीक प्रतिमाओं में उनका विकास पाया जाता था। मध्ययुग के शिल्पी धर्मात्मा लोगों की प्रदीस मूर्ति के निर्माण में दत्त थे।

सुगल-काल में मृत्ति-निर्माण कला की विशेष उन्नित नहीं हुई।
पर सुगल सम्राट्डमारत बनवाने के बड़े प्रेमी थे। उनमें कई एक ने
बड़े सुन्दर नगर वसाये हैं। अद्भुत राजप्रासाद और विशाल
दुगों का निर्माण करना तो उनके लिए एक साधारण वात था।
परन्तु उनकी बनवाई हुई इमारतों में मकवरों का स्थान निराला था।
मृत्यु के बाद उनका शब इन्हों मकवरों में दफन किया जाता था। ऐसे
मकवरों में ताजमहल की सबसे अधिक प्रसिद्धि है। वह विश्व में
सबसे विलक्षण और सौंदर्य-स्थापत्य कला का उदाहरण माना
जाता है। अतएव जब किसी सुगल सम्राट्की मृत्यु होती थी तव
उसकी मृत-देह उसके जीवन-काल के इच्छानुसार ही दफन की जाती
थी। तब वे स्थान विहार-भूमि के बदले मकवरों में परिणित हो
जाते थे और उनकी देखमाल का मार मुल्लाओं को सौप दिया
जाता था। एक अँगरेज लेखक का कथन है कि मनुष्य के शिल्पनैपुण्य के नमूनों में से इस प्रकार की इमारते अपने ढंग की एक ही

इस पृथ्वी के जिन वादशाहों और वजीरों ने अपने जीवन का समय दिल्ली, आगरा तथा फतेहपुर सोकरी में व्यतीत किया है, छन्होंने अपनी मृत्यु के बाद अपनी शव-देह को भी उसी प्रकार की

चजावट के साथ भूमिगत किया है। अपने तथा अपनी परिनयों के लिए मकवरे वनवाना उनका एक प्रकार का मनोविनोद था। अपने अवकाश का समय वे इसी कार्य में व्यतीत करते थे। युद्ध तथा यात्रा से, पड्यन्त्र तथा महत्वाकांचा की व्यग्रता से एवं नाना प्रकार के भोग-विलासों से, जब वे छुट्टी पाते थे तब उनका ध्यान इसी ओर भुकता था उस समय व भविष्य की अनन्त निद्रा की कल्पना करते थे। नीवन-काल च्रिक है। वह दुःखों से पारपूर्ण है एवं शत्रुताओं से प्रतिचण भयाकुल है। पद-भ्रष्ट नर-पति या क्रपा-पात्र सरदार सभी वातों से निराश हो जाता है। उसका सर्वस्व उसे पदच्युत करने चाले की दया पर निर्भर हो जाता है। परन्तु इस दशा में कोई सुसलमान उसके मकबरे को नहीं विनिष्ट करेगा। वहाँ पदच्युत चादशाह अनाहत और अपराधी वजीर भी शान्ति में चिरनिद्रा का उपभोग कर सकेगा। अतएव इसी विश्वास के कारण मुगलों ने व्यपना सारा वैभव मकवरों की उत्कृष्ट रचना में दिल खोलकर लगाया था। शिल्प कला के च्लेत्र में इसलाम धर्म ने यह सर्वश्रेष्ठ विजय श्राप्त की है।"

प्राचीन काल में भारतीय आयों को ख्यानों का बड़ा शौक था। भारतवर्ण की जलवायु भी ऐसी खण है कि छन्हें ख्यानों की जरूरत थी। आजकल प्राचीन उद्यानों का चिह्न तक नहीं पाया जाता। परन्तु संस्कृत-काव्यों में ख्यानों का खल्लेख किया गया है। उनसे विदित होता है कि भारतीयों ने ख्यान-शिल्प में अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। जब भारतवर्ण में मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब ख्यान-शिल्प में यथेष्ट विकास हुआ। सच तो यह है कि इस कला में फारस और तुर्किस्तान की अच्छी प्रतिभा थी। फारस के कि ट्यानों के सींदर्य-वर्णन में ही मुख हो जाते थे। कुरान में कहा गया है कि भगवान ने सबसे पहले ख्यान की सृष्टि की। हाफिज की किवता उद्यानों के वर्णन से भरी है। फूलों पर मुसलमान जाति का बड़ा

यनुराग है। इसका कारण कदाचित् यह है कि कुरान में मनुष्य और पशु-पिच्यों का चित्र बनाना निषिद्ध है। इसीसे सुसलमानों के कला-कौशल में फूलों की प्रधानता है। जब सभी कलाओं में फूलों का आदर है तब पुष्पोद्यान का निर्माण करना स्वामाविक ही है।

पाश्चात्य ज्यानों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो फूल और पौधे अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए विशेष यत्नशील हैं। परन्तु भारतीय ज्यानों में जलाशय ही ज्यान का प्राण है। इटली के ज्यानों में भी कृत्रिम जज्ञाशय बनाये जाते हैं। परन्तु के सिर्फ शोभा बृद्धि के लिए हैं। भारतीय ज्यानों में जल ही प्रधान वस्तु है। यदि जल न रहे तो ज्यान को कोई ज्यान न कहे।

सुगलों के ज्यानों के चारों बोर ऊँची-ऊँची दीवारें घिरी रहती हैं। प्रत्येक कोने में एक गुम्मज रहता है। ज्यान के सीमानत में एक वड़ा प्रासाद रहता है और सामने विशाल फाटक। विशालता ही सुगलों की पद्धित है। ज्यान में बड़े-बड़े वृक्त श्रेणी-बढ़ लगाये जाते हैं। बीच-बीच में कहीं गुलाव-कुंज है तो कहीं कुंज-ग्रह। शानित का तो वह निवास-स्थान रहता है।

काश्मीर और उत्तर भारत में मुगलकालीन कितने ही उद्यान हैं। काश्मीर का सबसे प्रसिद्ध उद्यान है निशात बाग। इसमें सात सीढ़ियाँ भीतर और तीन-चार बाहर हैं। प्रत्येक सीढ़ी पर फूलों की क्यारियाँ और फलों के पेड़ हैं। प्रत्येक सीढ़ी के बीच में पानी बहने के लिए चीड़ी नाली है। प्रत्येक नाली का पानी जो पहाड़ से आता है, प्रपात के द्वारा नीचे की दूसरी नाली में गिराया जाता है। इस प्रकार जितनी सीढ़ियाँ हैं, उतने ही प्रपात हैं। प्रत्येक नाली में कई फीनारे हैं। सामने मील है और पीछे ऊँची पर्वतश्रेणी।

वाजकल भारतीय उदानों में पाश्चात्य उदान-शिल्प का सम्मिश्रक

हो गया है। इससे उसकी भव्यता कम हो गयी है। भारतीय उद्यानों की भव्यता का अनुमान दर्शक ही कर सकते हैं।

प्रकृति के साथ मनुष्य अपना जैसा सम्बन्ध स्थापित करता है, वही छसका धर्म हो जाता है। संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं छन सबका छहे श्य एक ही है—यह है विश्व से मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करना। प्रकृति के साथ साहचर्य स्थापित होने पर मनुष्य केवल आनन्द देखता है। छसे विस्मय होता है, परन्तु यह विस्मय ही तो प्रेम है। ज्यवहार से परिचय होता है और मनुष्य की कर्मशक्ति विकसित होती है। इसी से नैतिक धर्म का छद्भव होता है। भाव के आनन्द में संघर्ष दूर होता है और मनुष्य का भोग पूर्ण हो जाता है। इसी से प्रेममय धर्म की उत्पत्ति होती है। जब कभी किसी देश में कोई धार्मिक आन्दोलन हुआ है तब धर्म ने अपनी रसपूर्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। सभी साधकों ने रस के प्रवाह से मनुष्य के कृतिम प्राचीरों को नष्ट कर एकत्व स्थापित किया। हमारी समस्त सत्ता को जाग्रत करके जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है वही धर्म है। धर्म के तत्वमात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती। धर्म का सच्चा रूप कला में ही व्यक्त होता है।

'भारतीय संस्कृति'' के सम्बन्ध में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणित है। धर्म के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधी में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं को सबसे सुन्दर परिणित को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है। भारतवर्ष वहुत बड़ा देश है। उसका इतिहास बहुत पुराना है। इस इतिहास का जितना अंश जाना जा सका है उसकी उपेचा जितना नहीं जाना जा सका, वह और भी पुराना और महत्त्वपूर्ण है। न जाने किस अज्ञात काल से नाना जातियाँ आ आकर इस देश में बसती रही हैं और इसकी साधना को नाना भाव से मोड़ती रही हैं। नया रूप देती रही हैं और समृद्ध करती रही हैं। "मारतीय संस्कृति" के इसी विकास को छन्होंने 'अशोक के फूल' के बहाने वर्णित किया है। मारतीय साहित्य और जीवन में अशोक-फूल का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय न्यापार हैं। कालिदास के कात्यों में यह पुष्प जिस शोभा और सौकुमाय का भार लेकर प्रवेश करता है, वह पहले कहाँ था। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से जुपचाप छतार दिया गया। वह छस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत दिच का ही प्रतीक था। अशोक आज भी विद्यमान है। कहीं तो कुछ नहीं विगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है, बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यहि बदले बिना वह आगे वढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। परन्त, सब बदलेगा, सब विकृत होगा, सब नवीन बनेगा, यही जीवन का नियम है।

भारतीय संस्कृति श्रीर उत्सव

[?]

भारतीय ग्रामों के भीतर कृषि ने प्राचीन काल से ही धर्म का एक रूप धारण कर लिया है। उसने नगर से पृथक् कृषि की एक विशेष सभ्यता निर्मित कर दी है। भारतवर्ष में धार्मिक भाव की प्रेरणा से भिन्त-भिन्न ऋतुओं में जो उत्सव मनाये जाते हैं, उनमें प्राय: सभी चर्सा क्रपि-सभ्यता के सूचक हैं। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र की जो पूजा होती है, उसमें गेहूँ के छोटे-छोटे पौधों में जगद्वात्री की सची श्री देखी जाती है और उसी की हो आराधना से वर्ष का प्रारम्भ किया जाता है। उसके बाद वर्षा के आरम्भ में भगवान की रथयात्रा के साथ कृषि आरम्भ होती है और वर्षाऋतुकी समाप्ति हो जाने पर जब धरित्री शस्य श्यामला हो जाती है, तब फिर जगद्धात्री की पूजा की जाती है, तभी लद्भी का आगमन होता है। वसन्त में जब वसुन्धरा का सारा वैभव संचित हो जाता है, तब सरस्वती की आराधना के बाद वसन्त का उत्सव मनाया जाता है। अपनी समस्त कल्लापित भावनाओं को दग्ध कर हम लोग प्रेम के रंग में ऐसे रंग जाते हैं कि फिर छोटे-बड़े का कोई भेदमान नहीं रह जाता। सम्पत्ति की वृद्धि के साथ यदि ज्ञान का विकास नहीं हुया और यदि ज्ञान के विकास के साथ सच्चे प्रेम भाव का प्रचार नहीं हुआ, तो मानव-समाज की उन्नति सम्भव नहीं। भारतदर्प के प्राचीन युगों में तपोवनों के भीतर जिस सभ्यता का उद्गम हुआ है, उसको जाति के जीवन में बत्तुण्या बनाये रखने के लिए प्राचीन काल से कृषि के आधार पर एक राष्ट्र-धर्म प्रचलित किया गया! उसने सभी मतों को अतिक्रमण कर राष्ट्रीय उत्सवों कारूप

धारण कर लिया। कितने ही धार्मिक उत्सवों में ग्रामोद्योग की छोटी-छोटी वस्तुओं को लेना इतना आवश्यक है कि उनके विना पूजा ही सम्पन्न नहीं हो सकती। उन्हों के कारण मारतवर्ष में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और जातियों का व्यवधान रहने पर भी राष्ट्र की मावना विज्ञुस नहीं हुई। कर्त्तव्यों का समावेश धर्म में कर देने से सभी वगों में अपने धर्म के भीतर एक गौरव का माव आप से आप उदित हो गया। यही कारण है कि आर्थिक विषमता होने पर भी लोगों ने स्वधर्म को छोड़ना स्वीकार नहीं किया। सच्चा परिश्रम ही धर्म हुआ और उसी के कारण राजनीति के दोन में परिवर्त्तन होने पर भी ग्रामों के भीतर जातीय जीवन की धार्मिक धारा नष्ट नहीं हुई और कृषि के साथ ग्राम उद्योगों को उन्नति वरावर होती रही।

क्रिष-सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके कारण अम-विभाग के साथ सहकारिता का भाव भी सामाजिक जीवन में प्रविष्ठ हो जाता है। इसी से प्राचीन काल से ही जनतन्त्र का एक विशेष रूप भारतीय सभ्यता में लच्चित होता है। पौराणिक उपाख्यान है कि जब राचसों पर देवों ने विजय प्राप्त कर ली तब यह निश्चित हुआ कि किसी एक को मुख्य पद प्रदत्त किया जाय। भगवान शंकर के दो पुत्र हैं। एक तो कुमार कार्तिकेय हैं और दूसरे गणेश। गणेश जी को कुमार कार्तिकेय की तरह हमलीग जन्मजात पुत्र नहीं मानते। ये पुत्र बनाये गये हैं। जब मुख्य पद देने की चर्चा चली तब उस पद के लिए कुमार के साथ गणेश जी भी यह चेष्टा करने लगे कि वह पद जन्हों को दिया जावे। कु.मार सेनापित थे। जन्होंने युद्ध में तारकासुर को परास्त किया था। उनके साथ सामरिक शक्ति थी। गणेश जी विद्या के अधिष्ठाता माने जाते हैं। उनके साथ शान की शक्ति थी। अन्त में कुमार के स्थान में गणेश जी ही मुख्य पद के लिए योग्य माने गये। वही देवों में पूजा के प्रथम पात्र हुए। गणतन्त्र के लिए जो अध्यक्त निर्वाचित होता है, उसमें जिन-जिन

-गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब गणेश जी में समाविष्ट कर दिये गये हैं। गणेश जी के बारह नाम प्रसिद्ध हैं। उनमें से प्रत्येक नाम के पीछे किसी-न किसी ग्रण की गरिमा निहित है। सबसे पहले गणेश जी के लिए समुख शब्द का प्रयोग किया गया है। सुमुख शब्द का अर्थ होता है वह व्यक्ति जिसका सुन्दर मुख हो। गणेश जी की जो मूर्ति वनाई जाती है, उसे देखकर कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि वे कम से कम सुमुख नहीं हैं। तब उनके लिए यह शब्द क्यों प्रयुक्त किया गया ? वात यह है कि मुख का यथार्थ सौंदर्य आकृति में नहीं, वचन में है। वाणी के ही कारण मुख सुन्दर माना जाता है। चाणी का वह वैभव गणेश जी में था। इससे स्पष्ट होता है कि गणतंत्र के लिए जो गुण अध्यत्त के लिए सबसे अधिक आवश्यक है, वह यह है कि उसमें वाणी का सच्चा वैभव होना चाहिए। उसमें वचन के माध्यं के साथ वचन की पटुता आवश्यक है। इसके बाद गणेश जी के लिए एकदन्त होना आवश्यक बताया गया है। दमन की एक ही नीति का अनुसरण करने से न्याय की व्यवस्था स्थिर हो सकती है। लोको कि प्रसिद्ध है कि जिनके खाने के दाँत और होते हैं और दिखाने के और, जनसे अन्याय ही होता है। पक्षपात-रहित नीति रखने के लिए यह आवश्यक है जो अध्यत्त हो, उसे एक दंत होना चाहिए। फिर उसे कपिल होना चाहिए! अर्थात् उसमें उत्साह की लालिमा चाहिए। जिनमें उत्साह की दीप्ति रहती है, उनके मुख पर सदैव लालिमा रहती है। निस्तेज व्यक्ति का मुख पीला पड़ जाता है। कर्त्तव्य में निरत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें उत्साह की स्फूर्ति हो । इसी के साथ उसे गजकर्णक भी होना चाहिए। हाधी के कान बड़े होते हैं। जिस व्यक्ति के कानों के पास जाकर कुछ लोग ही अपनी इच्छा के अनुसार वातें कह सकते हैं, वह कान का कचा माना जाता है। अध्यक्त को यह चाहिए कि वह सभी लोगों की वार्वे सुने। उसके पास सभी लोगों की पहुँच हो, जिससे सभी लोग

उसको अपनी बातें सुना सकें। तभी गणेश के लिए प्रयुक्त गज-कर्णक गणतंत्र के अध्यक्त के लिए होना समर्थंक होता है। गजकर्ण के साथ ही उसे लम्बोदर भी होना चाहिए। जो एक की बात सुनकर तुरन्त ही दूसरों से वही बात कह देता है वह लम्बोदर नहीं कहा जा सकेगा। जो लम्बोदर है वह सभी की बातों को ग्रहण कर उन्हें पचा लेता है। सभी लोगों की पहुँच उसके पास अवश्य होती है। फिर भी अपने तेज के कारण वह विकट भी होता है। कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी वह धैर्ययुक्त नहीं होता, उसे भय नहीं होता ह इतना ही नहीं, जो अन्यायी और अत्याचारी हैं वे उसके रौद्र रूप से स्वतंत्र हो जाते हैं। तभी वह सभी लोगों के विष्नों को दूर करने में समर्थ होता है। यह जनता को सन्मार्ग का प्रदर्शन कराता है। यह **उन**के लिए विनायक होता है, अपनी गौरव-२ ज्ञा के लिए उन्हें वाह्य प्रतीकों की कोई आवश्यकता नहीं होती। अन्य लोग जब अपने अपने रथ पर चढ़कर निकलते थे, तव अपने गौरव के सचक स्वरूप रथ की ध्वजाओं पर, विशेष चिह्न अंकित किया करते थे। गणेश जी के लिए ऐसे चिह्नों की कोई आवश्यकता नहीं थी। समस्त राष्ट्र में जो समृद्धि है उसी से उसका सच्चा गौरव स्पष्ट हो जाता है। सच्ची समृद्धि का चिह्न यह है कि सभी लोग अपने-अपने घरों में अच्छी तरह खाते-पीते और मुख से निवास करते हैं। किसी नगर में प्रवेश करने के समय यदि हम यह देखते हैं कि घर-घर में धुआ निकल रहा है, तो हम यह स्पष्ट रूप से जान लेते हैं कि सभी घर में रसोई वन रही है। समी समृद्वावस्था में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह धुआँ ही गणेश जी की गौरव-ध्वजा का सच्चा रूप है। इसीलिए गणेश जी धूमकेत कहे जाते हैं। ऐसा गणाध्यन सहसा उत्ते जित नहीं होता। वह गम्मीरतापूर्वक सभी वातों पर विचार करता रहता है। उसका मस्विष्क सदैव शीवल रहता है। उसमें चंद्र-ज्योत्सना की विशेषता के साथ शीतलवा भी रहती है। तमी वह "भालचंद्र"

कहा जा सकता है। जो गणाध्यन्न होता है, वह एक मात्र लेपने-अपने वर्ग के स्वार्थों की पूर्ति के लिए सचेष्ट नहीं होता। सच तो यह है कि जितने लोग देश में निवास करते हैं, उन सभी का वह सच्चा प्रतिनिधि होता है। उसके सुख में उन सभी का सुख विद्यमान् रहता है। वह यही अनुभव करता है कि जितने प्राणी हैं उनके सुख में ही उनका सुख है। 'ग' का अर्थ होता है जाने वाला और 'ज' का अर्थ जन्म लेने वाला। गज शब्द के भीतर समस्त प्राणियों का समावेश हो जाता है। इसीलिए गज का सुख ही जिसके लिए मुख होता है उस गणेश में हम समस्त प्राणियों का प्रतिनिधित्व देखते हैं। इन्हीं भावों से प्रेरित होकर भारतीय समाज में गणेश पूजा का जो प्रचलन हुआ उसमें समता, बन्धुत्व और स्वाधीनता के भाव समाविष्ट कर दिये गये। सभी लोगों को उन उत्सवों में समान रूप से सम्मिलित होने का अधिकार है। सभी उसमें शान के साथ कला के द्वारा सच्चे आनन्द का उपमोग करते हैं।

भारतवर्ष में शासन की शक्ति एक विशेष वर्ग के हाथ में अवश्य थी। फिर भी यहाँ की सामाजिक व्यवस्था ऐसी थी कि उसमें जनतन्न, की भावना काम कर रही थी। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का अस्तित्व, रहने पर भी दोनों में एक ऐसा दृढ़ सहयोग था कि एक के विना दृसरें का निर्वाह हो ही नहीं सकता था। अंगरेजी में जिसे ''आलीगार्की'' कहते हैं, उसका जो रूप पाश्चात्य देशों में था वह भारतवर्ष में कभी: लच्चित नहीं हुआ।

यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जनतन्त्र की सफलता जनता पर निर्भर है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि यथा राजा तथा प्रजा, अर्थात् जैसा शासक होता है, उसी प्रकार प्रजा भी हो जाती है। परन्तु अब राजनीति यथार्थ में जन-नीति है। जनता की जैसी मानसिक स्थिति होती है, उसके विपरीत शासन की नीति निर्धारित नहीं हो सकती। जनतंत्र में लोकमत की सदैव प्रतिष्ठा होती है। इसी के ्रहिसाथ यह भी कहा जा सकता है कि जनता के भीतर यह शक्ति होनी ु- चाहिए जिससे लोकमत की प्रतिष्ठा-वृद्धि हो सके। वृद्धावस्था में जैसे वाप से आप शिथिलता आ जाती है, उसी प्रकार एक विशेष स्थिति में जाति अथवा राष्ट्र के भीतर एक शिथिलता उलक हो जाती है। दुर्गा -सप्तराती की तीनों कथाओं में शक्ति, सम्पत्ति और ज्ञान का बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं -तीनों के समन्वय पर राष्ट्र का विकास निर्भर रहता है। पहली कथा में यह बताया गया है कि जब जगदीश्वर निद्रावस्था में थे, तब उन्हीं के भीतर से दो प्रवल दैत्य प्रकट हुए। उनकी असाधारण शक्ति थी। वे दृष्टि के मूल रूप को ही नष्ट कर देना चाहते थे। परन्तु जब भगवान अपनी योग-निद्रा को छोड़ कर एठ बैठे, तब एन दोनों दैत्यों के साथ उन्हें घोरतम युद्ध करना पड़ा | उनके पराक्रम से प्रसन्न हो कर उन दैत्यों ने ही उनसे यह कहा कि तुम हम से वरदान माँगी । तब भगवान ने वरदान के रूप में नहीं की मृत्यु की कामना की। तभी वे मारे गये। इस कथा का मर्म मेरी समक्त में यह है कि जब राष्ट्र की मोहावस्था छोड़ देने के वाद भी राष्ट्र को दो दुर्गु खों से घोर संघर्ष करना पड़ता है तब उन दुर्गुणों को हम सहसा वशीभूत नहीं कर पाते। उन्हें स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा विनष्ट करना पड़ता है। वे दोनों दुग गा हैं; आलस्य और परावलंब का भाव। जाति में आलस्य का भाव इतना अधिक प्रवल हो जाता है कि वह स्वयं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर सकती। उसमें स्वावलम्य का भाव ही नहीं रह जाता। वह पराश्रित हो जाती है। जिसे हम लोग अदृष्टवाद कहते हैं। उसको स्वीकार कर वह अपना सच्चा पौरुप खो बैठती है। जब तक मन की यह स्थिति है, तव तक वे दोनों दुर्गुण भी अजेय होते हैं, उनका टमन नहीं किया जा सकता। पौरुप के द्वारा जब मन में स्फूर्ति आती है, -तब वे स्वयं विनष्ट हो जाते हैं। राष्ट्र में शक्ति का सच्चा स्वरूप तभी अकट होता है, जब उसमें न आलस्य रहता है और जन परावलम्ब का

भाव। तब मानो जाति में तारुण्य की नवदीप्ति प्रकट ही जाती है 🤥 परन्त इस अवस्था में भी अशिचा के कारण जो एक अज्ञान प्रकट होता है वह उन्नति के मार्ग में सबसे बड़ा वाधक बन जाता है। यही अज्ञान महिषासुर है। इसको पराभूत करने की शक्ति एक व्यक्ति में नहीं रहती। कोई व्यक्ति चाहे कितना भी अधिक शक्तिशाली क्यों न हो, उस अकेले के लिए यह संभव नहीं है कि वह अज्ञान को विनष्ट कर सके। इसके लिए छोटे-बड़े सभी को सम्मिलित रूप से अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार निरन्तर अधिकतम प्रयास करना पडता है। महिषासुर के वध के लिए सभी देवों ने मिलकर एक स्थान में अपनी-खपनी शक्तियों को संचित किया। तब उनसे वह शक्ति उत्पन्न हुई जिसने महिपासर का संहार किया। अज्ञान विनष्ट हो जाने के वाद भी राष्ट्र की ऐश्वर्य-वृद्धि में दो बड़े बाधक होते हैं। अहंकार की भावना और दूसरा है देशभिवत के लिए साम्राज्य का लोभ । इन्हीं के कारण फिर एक वड़ा संघर्ष होता है और अन्त में महासरस्वती की वाराधना से. ज्ञान की विश्व उपासना से जो शक्ति वाती है उसके द्वारा उन दोनों का विनाश होता है।

[マ]

वसंत का उरसव समाप्त कर जब हम शक्ति की आराधना कर लेते हैं, तब हमारा नया वर्ष प्रारम्भ होता है। वर्षा का प्रारम्भ होता है। वर्षा के प्रारम्भ में ग्रोब्म-ऋतु का उत्ताप हम लोगों के लिए तपस्या का काल होता है। आरम्भ-काल तपस्या काल होना ही चाहिए। जीवन के आरम्भ-काल में ब्रह्मचर्य की उग्र साधना और कठोर तपस्या की आवश्यकता होती है, तभी तो हम धेर्य, संयम, सहिष्णुता, साहस आदि गुण प्राप्त करते हैं। जितना हो अधिक संताप होता है, उत्ती ही अधिक जीवन में सुख-वृद्धि होती है, तभी तो ग्रीब्म के वाद वर्षा का काल आता है। सहिष्णुता, धेर्य और साहस की परीना कर

छपासीना का अन्त होता है प्रेम और सहयोग के इस सम्मिलन में, जो विजयादशमी के नाम से प्रसिद्ध है। जीवन में विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले हमलोग गणेश अर्थात जनता के यथार्थ शासक की पूजा करें, जो शासक एक दन्त अर्थात् राज-दण्डः धारण करता है, जो मूषक अर्थात् चोरों को दबा रखता है, जिसके विशाल कर्ण और सूद्म दृष्टि हैं, जो सब लोगों की सभी तरह की वातें सुन लेता है और जो दूरदर्शिता से सदैव काम लेता है, जो विद्या में निष्णात होता है, जो नीति में निपुण होता है और जो विनायक अर्थात जन-समृह का यथार्थ नेता होता है। ऐसे नेता या शासक की उपासना करने के बाद यह आवश्यक है कि हम लोग धर्म के वन्धन से वद रहें। नीति और धर्म के द्वारा हम लोगों की यथार्थ रहा होती है। जो हमारे जीवन में धर्म और नीति का प्रध प्रदर्शन करते हैं उन ग्रहजनीं के द्वारा हम लोगों के लिए जो बन्धन निर्मित होता है वही बन्धन यथार्थ में हम लोगों की रचा का कारण है। उस बन्धन से ही हम स्वच्छन्दता के पथ पर नहीं जा सकते। उसी वन्धन के कारण हम लोग नीति और धर्म की मर्यादा को तोड़ नहीं सकते। उसी के कारण तरणावस्था की प्रचएड वृत्तियों को रोककर हम लोग गुरुजनों का वादेश मानकर उन्नति के सच्चे पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। इसी लिए यह कहा जाता है कि प्रचण्ड दैत्य राज, जिस धर्म-नीति के बंधन के द्वारा बद्ध हुआ था, उसी वन्धन से प्रत्येक व्यक्ति वाँधा जा रहा है। यह बन्धन धर्म, समाज और राज्य द्वारा निर्मित अनुशासन है। इस बन्धन को तोड़ते ही सर्वत्र अशान्ति होती है, विरोध होता है, विद्वप और वैमनस्य के भाव फैलते हैं और तब जाति या राष्ट्र या राज्य पतन की ओर अग्रसर होते हैं। यह अनन्त नीति है। नीति या बन्धन चिरकालीन है। यह सदैव होता है और यह चिरकाल तक बना रहेगा। इस नीति और धर्म के बन्धन को इद बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम लोग अपने पूर्वजों के आदशों का अनुसरक

करें। उन लोगों ने जिस नीति का अवलम्बन किया है, उन लोगी ने जिस प्रकार अपनी जीवन यात्रा समाप्त की है, उस बात की हमलीग प्रत्येक वर्ष अपनी विजय-यात्रा के आरम्भ में स्मरण कर लेते हैं। पूर्वजों के द्वारा अर्जित गौरव और निर्मित आदर्श को भूलकर हम लोग कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकते। उसी के द्वारा हम लोगों में राष्ट्रीय भावों का जागरण हो सकता है। इसके बाद हम लोगों को शक्ति की खपासना कर शक्ति सम्पन्न बनना पड़ेगा। पर हम लोग यह न भूल जायँ कि यह शक्ति प्रेम, प्रीति और प्रतीति में ही परिखत होने पर कल्याणकारिणी होती है। जिस शक्ति के द्वारा शत्रुता बढ़ती है, जिस शक्ति के कारण हम लोगों में विद्रोह और विद्रेश बढ़ते हैं उससे हम लोग कभी अपनी उन्नति नहीं कर सकते। इसलिए शक्ति की आराधना का अन्त प्रेम, विश्वास और सहयोग के सम्मिलन में होना चाहिए। जब यह सम्मिलन हो जाता है तभी हम लोग व्यवसाय बीर वाणिज्य की छन्नति कर सकते हैं और तभी हम सहर्ष लद्मी की पूजा कर पाते हैं। यही इस विजयादशमी के उत्सव का रहस्य है।

वाह्य- एंसार में जैसे ऋतु-परिवर्तन होता है बैसे ही हमारे अन्तः जीवन में भी ऋतु-परिवर्तन-सा होता रहता है। हम लोगों के जीवन में ग्रीष्म, पावस, शरद, हमन्त और शिशिर एक के बाद एक आते हैं और चले जाते हैं। वसंतकाल का उन्माद, ग्रीष्म का उंताप, पावस की वालस्यमयी वृत्ति और औत्सुक्य पूर्ण भावलीला, शरद की व्ययता- पूर्ण कर्मनोति, हेमन्त की प्रौद गंभीरता और शिशिर की स्निग्ध चिंता ये सभी भाव हम लोगों के जीवन में क्रमशः उदित होते हैं और विलुत भी हो जाते हैं। तब उत्सवों द्वारा हम लोग वयने व्यक्तिगत जीवन में भी एक नवीन स्फूर्ति, प्रेरणा और शक्ति पाने का प्रयत्न करते हैं। सुमें ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के बसंत-काल में विद्या और विज्ञान की देवी सरस्वती की आराधना के बाद वासनाओं की होलिका-दहन

कर हम लोग दुर्गा की जपासना में लीन हो जाते हैं। वैसे ही जीवन के शरद्-काल में विजय की सिद्धि के लिए शिक्त की पूजा को आव-श्यक जान हम दुर्गा की आराधना करते हैं। न तो वसंत के नव-जिल्लास में शिक्त की आराधना जपेचणीय है और न शरद् की प्रौढ़ श्री में। मेद यही है कि जीवन के वसंत में तरुणावस्था के जन्माद को संयत रखने के लिए सच्चे ज्ञान के बाद शिक्त की आवश्यकता होती है, जसी प्रकार जीवन के शरद्काल में प्रौढ़ कर्म शिक्त की गौरव-रच्चा के लिए पहले शिवत की आराधना कर लेने के बाद लहमी की जपासना से देवशिक्त जाग्रत करनी पड़ती है। वसंत का होलिका-दहन जसे क्रांति के विद्वंस का सूचक है, वैसे ही शरद्-काल का देवोत्थान प्रौढ़ चिन्तक और अध्यवसाय के बाद नवजायित को व्यक्त करता है।

भारतीय संस्कृति और विज्ञान का विकास

भारतीय आयों का सर्वस्व वेद है। वेदों से ज्ञान के जिस स्रोत का छद्गम हुआ, उसी से हिन्दू-साहित्य आज तक प्लावित है। हमारे पढ्-दर्शनों और छपनिषदों ने छसी के आधार पर ज्ञान का विशाल भवन निर्मित किया है। इतना ही नहीं हिन्दुओं का ज्योतिष-शास्त्र, चिकत्सा-शास्त्र, गणित और विज्ञान, सब छसी से निकले हैं। भारतीय आयों ने अपने ज्ञान की अच्छी बुद्धि भी की। भारत की सजला और सफला भूमि में छन्हें आत्म चिंतन के लिए कोई भी बाधा नहीं थी। कितने ही लोगों का विचार है कि भारतवर्ष में विज्ञान की चर्चा कभी थी ही नहीं, परन्तु यह छनका भ्रम है। भारतवर्ष में सत्य ज्ञान का पर्यायवाची है। भारतीयों का विश्वास है कि ईश्वर ज्ञानमय है, और मनुष्य छसका अंश। छसमें यह शक्ति है कि वह ज्ञानमय इंश्वर के सामीप्य को पहुँच सकता है। जो अनन्त ज्ञान की छपल्टिध के लिए अपने को योग्य समक्तता है; वह भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त न करें; यह सम्भव नहीं।

विज्ञान में भारत ने वड़ा काम किया है। अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित में उसीने पहले-पहल आविष्कार किये। दशमलव की रीति उसी की है। एक विद्वान् का कथन है कि अरव-निवासियों ने भारतीय बीजगणित का अनुवाद अपना भाषा में किया, और उसी से ज्ञान प्राप्त कर पित्रा के लिओनाडों ने यूरोप में बीजगणित का प्रचार किया। प्रयोगात्मक विज्ञान में भी भारत का दखल था। साठ-सत्तर साल पहले बोगदे की निर्माण-कला पाश्चात्यों को अज्ञात थी। परन्तु भारत में एलोरा के गुफा मन्दिरों को बने हजारों वर्ष हो गये। जैसे लोह-स्तम भारत के प्राचीन कारीगरों ने तैयार किये हैं, वैसे स्तम्म बना लेना पचास-साठ वर्ष पहले योरण तक के लिए दुष्कर था। प्राचीन काल में बैबीलोन और असीरिया भी सम्यता के केन्द्र थे। इनका प्रभाव भारत पर पड़ा, और भारत का प्रभाव इन पर। विद्वानों की राय है कि हिन्दू-स्थापत्य पर असीरिया का प्रभाव विद्यमान है। इन दोनों की देवता सम्बन्धी कल्पनाओं में भी आश्चर्य-जनक साम्य है। कुछ लोग यह कहते हैं कि ज्योतिष में सत्ताइस नचत्रों के मंडल की गणना हिन्दुओं ने असीरिया के लोगों से सीखी। चिकित्सा शास्त्र में भी भारत ने बड़ी छन्नति की थी। योरण में हिपोक्रेटस चिकित्सा-शास्त्र का जनक समका जाता है। आधुनिक अनुसंधान से विदित होता है कि उसने यह शास्त्र भारत से ही लिया था।

यदि ग्रीस ने भारत से कुछ लिया, तो उसकी वृद्धि भी अच्छी की। कान्यों में वियोगांत नाटकों की उत्पत्ति ग्रीस में ही हुई। दर्शन-शास्त्र में साक्षेटीज, प्लेटो और अरिस्टाटिल के नाम अमर हैं। यूक्लिड का नाम कीन नहीं जानता? हेरोडोटस ने इतिहास लिखकर आधुनिक इतिहास को जन्म दिया। सिकन्दर की दिग्तिजय के पश्चात् ग्रीस की सभ्यता प्राच्य देशों में फेल गई। पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि भारत के बौद-कालीन कला-कौशल पर ग्रीस की छाया विद्यमान है। विद्या भूषण महाशय की राय है कि भारतवर्ष के न्याय पर अरिस्टाटिल के न्याय का प्रभाव अवश्य पड़ा। धर्मकीर्ति और उद्योतकर पर सीरिया और पर्शिया के नैयायिकों का प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों की यह सम्मति है कि हिन्दू-नाटकों में भी ग्रीस का प्रभाव विद्यमान है।

एशिया में चीन की सभ्यता वड़ी प्राचीन है। भारत से चीन का घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह संबंध बौद्ध-धर्म के कारण हुआ। सीलोन, जावा, वर्मा, श्याम और जापान भी इसी सम्बन्ध-सूत्र से वँघे हैं। बौद्ध-धर्म की प्रचार कथा बड़ी मनोरंजक है। चीनी प्रन्थों में लिखा है कि चीन के सम्राट् मिंगटी ने एक विचित्र स्वप्न देखा। उसने देखा कि एक विशाल स्वर्ण-मूर्ति उसके राजमंदिर; में प्रवेश कर रही है। दूसरे दिन, पूछने पर, लोगों ने उससे कहा कि आप को स्वप्न में गौतम बुद्ध का दर्शन हुआ है। सम्राट् ने दूत भेजकर बुद्ध की मूर्ति और धर्म-प्रन्य भारत से मंगवाए। उसके दृतों के साथ मातंग नामक एक भारतीय विद्वान् भी गया। उसने सूत्र के वयालीस प्रकरणों का अनुवाद चीनी-भाषा में किया। उसकी मृत्यु चीन में ही हुई। धर्मरच नाम का एक बौद्ध अमण सन् २६० में चीन पहुँचा। उसने चीन की भाषा में, १६५ बौद्ध-प्रन्थों का अनुवाद किया। जिलत विस्तर का संशोधन भी उसी से कराया गया। निर्वाण-सूत्र के चीनी अनुवाद को देखकर उसी ने उसे शुद्ध किया।

सन् ३३५ में चीन-देश के निवासियों को बौद्ध मिन्तु होने की बाजा मिल गई। यह काम बौद्धि सिंह नामक किसी भारतीय विद्वान के बादेश से हुआ था। सम्राट् यओ हिंग ने सन् ३६७ और सन् ४१५ ई० में भारतीय विद्वान कुमारजीव को बुलाकर आदरपूर्वक रक्खा। धीरे धीरे ५०० बौद्ध विद्वान एकत्र हुए। सम्राट् स्वयं उपस्थित थे। धर्म-प्रन्थों की रचनाओं पर विचार हुआ। राजकुमार यओ-वंग और यओ-सेंग ने उनकी नकल करने का भार स्वताया। इसी समय फाहियान नामक चीनी यात्री भारतवर्ष में भ्रमण करने के लिए आया। वह सन् ४१५ में चीन वापस लौटा।

सम्राट् ईत्सिंग बौद्ध धर्म का अनुयायी हुआ। वह अपने महल में बौद्ध मित्तुओं को बुलाकर धर्मोपदेश सुना करता था। उसने संस्कृत का भी अध्ययन किया। वह संस्कृत में ही मंत्रोचारण किया करता था।

चीनी यात्री वरावर भारतवर्ष आया करते थे। सन् ६६५ ई० में एक वौद्ध विद्वान् ताङ्यत्र ४० ग्रन्थ भारतवर्ष से लेगया। उसके दूसरे ही साल १५७ चीनी यात्री आए। तोय नामक एक चीनी फाहियान का विवरण पढ़कर इतना उत्साहित हुआ कि स्वयं भारत-यात्रा के लिए निकल पड़ा।

चीन, तिब्बत, जापान आदि देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए कितने ही विद्वान् गए। चीन और तिब्बत में कितने ही भारतीय साहित्य के ग्रंथ विद्यमान हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों की भी वहाँ खूब चर्चा हुई। न्याय-शास्त्र का अवाध प्रचार हुआ। चीन में हिन्द न्याय-शास्त्र का प्रचार हुएन-सांग ने किया। हुएन-सांग का जन्म सन् ६०० ई० में हुआ था। युवावस्था में उसने खूब अध्ययन किया। २८ वर्ष की अवस्था में उसने भारत में झाकर न्याय-शास्त्र अध्ययन करने का निश्चय किया। सन् ६२८ में वह चीन से रवाना हुआ। काश्मीर मैं वह सांख्ययशा (Sankhya-yashe) नामक एक विद्वान् से मिला। सांख्ययशा की उम्र उस समय ६० वर्ष की थी। उसने कुछ समय तक हुएन-सांग को शिचा दी। फिर वह मध्य भारत में आया। वहाँ उसने नालंदा में शीलभद्र के दर्शन किए। वहीं वह पाँच वर्ष तक रहकर अध्ययन करता रहा। फिर वह दो महीने तक प्रजिनभद्र के पास रहा। इसके बाद जयसेन के पास दो साल रहकर उपने शिद्धा समाप्त की। सील हवर्ण वाद वह चीन लौटा! वह अपने साथ ६५७ सूत्र और शास्त्र-ग्रन्थ ले गया। कोहफुक जी (Koh-Fuk-Ji) के मठ में रहकर उसने उनका चीनी-भाषा में व्यनुवाद किया। १६ वर्ष तक वह इसी काम में लगा रहा। हेतु विद्या का भी उसने अनुवाद किया। सन् ६६४ में, ६४ वर्ष की अवस्था में उसका देहांत हुआ।

चीन और जापान में भारतवर्ष का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रभाव की इयत्ता जानने के लिए इन देशों के इतिहास, साहित्य तथा कला का शान प्राप्त करना होगा। इनके जातीय-जीवन में भी भारतीय विचारों का प्रवेश हो गया है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जापान के सम्राट् अपनी उत्पत्ति सूर्य से मानते हैं; और जापान का राष्ट्रीय मंडा सूर्याकित है। ईसा की आठवों सदी में; भारतीय प्रभाव से ही जापान के पुरोहितों और योद्धाओं की उन्नित हुई। आजकल भी जापानी साधुओं का रहन-सहन तथा उनकी विचार-परम्परा विलक्षल भारतीयों के समान है। सामुराई-जाति में जो मान-मर्यादा, स्वामि-भक्ति तथा सरलता देखी जाती है, उसका भी कारण भारतीय प्रभाव है। प्राचीन काल में चीन अपने कला-कौशल के लिए विख्यात था। यह संभव नहीं कि भारत ने उससे कुछ भी ग्रहण न किया हो। नेपाल में भी भारतीय मंगोल-जाति निवास करती है। वहाँ हिन्दू तथा चीनी स्थापत्य का विलच्चण सम्मिश्रण हुआ है। तिब्बत, जावा, बर्मा और स्याम में भी इन दोनों सभ्यताओं का सम्मिलन हुआ है। इन देशों में भारतीय विचारों की पहुँच बौद्ध-धर्म के द्वारा हुई और मंगोलों के विचार भारत में इन्हों देशों से होकर आए।

किसी समय वौद्ध-धर्म के प्रचारकों ने एशिया के पश्चिमी-देशों में अपने मत का खूब प्रचार किया। जन्हों लोगों से वहां भारतीय ज्ञान का प्रसार हुआ। भारतवर्ष की शिक्षा ही फारस की ज्ञानोन्नित का मूल है। इसके बाद इस्लाम का अभ्युत्थान हुआ। अरब-निवासियों ने भारत से तो सीखा ही था, इधर मिस्र और प्रीस के साहित्य ने भी अरबी-साहित्य को खूब जन्नत किया। क्रमशः मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति वहीं प्रचण्ड हो गई। जन्होंने एशिया, योरोप और अफ्रिका के अधिकांश भागों पर अधिकार कर लिया। भारतवर्ष पर भी जनका प्रभुत्व स्थापित हुआ। तब भारत ने भी अरब से कितनी ही बातें सीखीं। अरब-साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य में बाज तक विद्यमान है। खलीफा बली के वंशजों से सीरिया को छीनकर माविया ने कैसे उस पर अधिकार कर लिया, और वहाँ उम्मियाँवंश का आधिवत्य कैसे स्थापित किया, यह इतिहासशों को सालूम है। इसी माविया ने दिमश्क में राजधानी स्थापित की। कुछ

काल तक इसके बंशधरों ने राज्य किया। अब्बासी-राजवंश ने उनका आधिपत्य हटा दिया, और अपना प्रभुत्व जमाया। इस वंश के दितीय खलीफा अलमंसूर ने दिमश्क से राजधानी हटा कर बगदाद में कर दी। अरबों की विकान-चर्चा के मुख्य स्थान दिमश्क और बगदाद ही थे।

अमीर अलो का कथन है कि उम्मिया-वंश के शासन काल में सुसलमानों में ज्ञान का प्रसार नहीं हुआ। इस वंश के संस्थापक मित्रा ने असत्वथ से राज्य प्राप्त किया था। परन्तु इसी वंश के खलीफा जमर का आधिपत्य होने पर विद्या को खूब प्रोत्साहन मिला। जसने विलासिता में हो अपना जीवन नहीं ज्यतीत किया। जसके समय में अलेक्जंड्रिया का स्थान ए टियाक और हारान ने ले लिया। ये ही शिक्षा के केन्द्र हो गए। इज्न अखजार-अलेक्जंड्रिया में प्रीक-दर्शन का अध्यापक था। जसे खलीफा जमर ने चिकित्सा-विभाग में सबसे जन्म पद पर रक्खा।

हारान के निवासी ग्रीक और अरवी, दोनों ही भाषाओं में निपुण होते थे। उन्हीं के कारण ग्रीक-सभ्यता और भाषा का प्रभाव अरवी भाषा पर पड़ा। फिर भी उम्मियां के शासन-काल में विद्या की उन्तित अवस्द थी। खलीका युद्ध में लिस रहते थे, विद्यानों का मान होता था। अयूबक, उमर और अली के वंशजों ने अरव-देश का नाम रख लिया।

यव्वास-वंश के अलमंसूर ने सिहासनारूढ़ होकर वगदाद को राजधानी वनाया। तब से वगदाद हो विद्या का केन्द्र हो गया। शिल्प, वाणिज्य और विज्ञान की उन्नित में वगदाद का ही सबसे कँचा स्थान है। अव्वास-वंश के शासन-काल में मुसलमानों का राज्य खरड-खण्ड हो गया। पश्चिमी अफ्रीका तो विलकुल ही स्वतंत्र हो गया। इस घराने के नरपित साम्राज्य-विस्तार की लालसा हो इक कर विज्ञान की ही उन्नित में लगे। अलमंसूर को विद्या से बड़ी

सिक्चिथी। उसके समय में भिन्न-भिन्न भाषाओं से सर्नेक ग्रन्थ सरवी में अनुवादित हुए। हितोपदेश और सिद्धान्त नामक ज्योतिष-ग्रन्थ के अनुवाद उसी के समय में हुए। अरिस्टाटिल के कुछ ग्रन्थ टॉलेमी का आलमेजस्टा, यूक्लिड का ज्यामिति शास्त्र और प्राचीन ग्रीक तथा फारसी भाषा के अन्य ग्रन्थ भी अनुदित हुए।

व्यतमंद्धर स्वयं विद्वान् था। व्यलंकार-शास्त्र में वह बड़ा प्रवीण था। इन वनुवादों को वह स्वयं पढ़ा करता था। उसके बाद भी कितने खलीफा हुए, सभी विद्या के प्रेमी थे। अब्बासी राजवंश के छठे खलीफा हारू रसीद की बड़ी प्रसिद्ध है। उसकी राजसभा में व्यनेक विद्वान् थे। उनका खूब बादर होता था। शिल्प और विज्ञान की उन्निति में उसने खूब खर्च किया। वह संगीतज्ञों का भी मान करता था। उन्हें उपाधि तक देता था। उनकी जीविका का भी प्रवन्ध करता था। इससे उसके समय में संगीत की भी अच्छी उन्निति हुई।

उसके बाद माँमू खलीफा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके समय में अरव-सभ्यता और विद्या उन्तित की चरम सीमा को पहुँच गई। एक अँग्रेज लेखक ने लिखा है कि मध्ययुग में अरववाले ही सभ्यता के प्रमुख प्रतिनिधि थे। उन्होंने ही योरोप की असभ्यता दूर की। वे अन्य जातियों से ज्ञान-प्राप्त करके ही संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने स्वयं विज्ञान के नए-नए मार्ग निकाले। दूसरी जगह उसी ने यह लिखा है कि ग्रीक-विज्ञान का भी अधिकांश हमें अरववालों से ही प्राप्त हुआ। मांमू का राजत्व-काल ज्ञान-युग कहा जाता है। उसके समय में टॉलेमी के आलमेजस्ट का दूसरा अनुवाद हुआ; और हिन्दू ज्योतिप-शास्त्र पर टीका लिखी गई। ऐसे ही चिकित्सा-तत्त्व, आलोक-तत्त्व, वायु-तत्त्व, दर्शन, ज्यामिति आदि विषयों पर भी अनेक ग्रन्थ रचे गये। ऐतिहासिकों का मत है कि कितने ही भारतीय विद्रान

न्बगदाद गये। मन्सूर की राजसभा में गणित-शास्त्र का एक विद्वान् पहुँचा। हारूनरसीद जब बीमार पड़ गया तब भारत से वैद्य बुनाया-गया उसका नाम मनका बतलाया गया है। सुश्रुत का अनुवादः अस्वी भाषा में किया गया है। चरक का भी अनुवादः किया गया।

अबु मेजर ने ज्योतिष-विज्ञान में अच्छी गवेषणा की । उसके अन्य से आधुनिक ज्योतिष शास्त्र में कितने ही तस्त्र लिये गये हैं। अबुत्तहुसेन ने दूरबीन का आविष्कार किया था। ज्योतिर्विदों में अलबदानी का बड़ा ऊँचा स्थान है। लेटिन में उसके प्रन्थ का अनुवाद हुआ था और उसी के आधार पर योरोप का ज्योतिष-शास्त्र स्थित है। जिक्कोण मिति और ज्योतिष-शास्त्र में सोन और कोसीन का प्रचार सबसे पहले उसी ने किया।

संसार पर सुप्तलमानों का जो प्रभाव पड़ा है, वह अच्य है।

मिन्न-मिन्न नगरों में उन्होंने वेधशालाएँ वनवाई । उन्होंने विद्या और विज्ञान की खूब उन्नित की, उनका खूब प्रचार किया । भारतीयों और वृत्तानियों का ज्योतिष भारत तथा चीन का चिकित्सा-विज्ञान और हिन्दू तथा यूनानी दर्शन की शिचा; वगदाद, करों और कारडोवा में दो जाती थी। कितने ही संस्कृत-प्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ है। कला में भी उन्होंने अच्छी उन्नित की। पहले उनके स्थापत्य पर वेजंटाइन तथा ईरानी-शैली का प्रभाव पड़ा। परन्तु क्रमशः उसने अपना एक विशेष रूप धारण कर लिया। वह मिस्त और ईरान, अफगानिस्तान और भारत आया। सुगलकाल के भारतीय स्थापत्य की सत्यता इसी प्रभाव का फल है। ईरान में अरबों और ईरानियों के सम्मेलन से एक नई जाति की स्थिट हुई। फिरदोसी, हाफिज, सादी और दूसरे असर किव इसी जाति के रत्न थे। सुसल-मानों के शासन-काल में फारसी राजमाषा हो गई, और हिन्दू-साहित्य पर उसका वड़ा प्रभाव पड़ा। कितने ही हिन्दू कियों ने फारसी में।

रचनाएँ की हैं। फारस में भारतीय दर्शन के प्रसार में स्फी धर्म की उत्पत्ति हुई।

योरोप ने संसार को जो ज्ञान दिया है, उसका अभी प्रारम्म ही हुआ है। तो भी उसका प्रभाव विश्ववयापी हो गया है। विज्ञान की उन्नति इतनी शीव्रता से हो रही है कि लोग उनका प्रभाव सोच ही नहीं सकते।

कहा जाता है कि जब वर्थलो नामक विद्वान् मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था; तब वह बार-बार यही कहताथा कि मैं अन्तिम मनुष्य हूं; जिसके मन में समस्त ज्ञान-विज्ञान सन्निविष्ट है। यह क्या **उसकी गर्वोक्ति थी। इसमें संदेह नहीं कि उसे यह कहने का** अधिकार था। अपने जीवन-काल में उसने संसार के प्रचलित ज्ञान को स्वायत्त कर लिया था। कोई उस समय जितना जान सकता था उतना वह जानता था। परन्तु उसके कथन में गर्व नहीं, विवाद भरा हुआ था। उसके कहने का अभिप्राय यह था कि उसने पृथ्वी पर जल्दी जनम लिया और कभी लोग उस ज्ञान को भी प्राप्त कर लोंगे, जो उसके लिए विलक्कल अज्ञेय है। अन्त में उसने यह कह कर अपने मन को आश्वासन दिया कि एक ही समय में समस्त ज्ञान को जानने के लिए कभी किसो भी मनुष्य के मस्तिष्क में स्थान न होगा। यह विलक्कल सच भी है। आजकल ज्ञान का चेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि कोई कितना ही वड़ा मेधावी क्यों न हो, वह शान के कुछ ही अश को स्वायत्त कर सकता है। अब इतिहास, विज्ञान, दर्शन आदि शास्त्रों की अगण्य शाखाएँ हो गई हैं। एक ही शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर लेना कठिन है, समस्त की तो वात ही क्या ?

बाधुनिक विशान ने शान के च्रेत्र को जिस प्रकार विस्तृत कर दिया है उसी प्रकार उसने मनुष्यों के सामने अनंत साधन भी उपस्थित कर दिए हैं। मनुष्य जन साधनों का जपयोग कर अपने जीवन को अधिक सुखमय बना सकता है।

गत सौ वर्ष से विज्ञान की विशेष उन्नति हुई है। प्रसिद्ध गणित विशारद चार्ल्फ डारविन के तेरह वर्ष के वय तक आधुनिक विज्ञान और आधुनिक दर्शन की सारी बुनियाद नहीं पड़ सकी थी। रसायन-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान के च्लेत्र में मिचल फराडे ने कार्यः करना आरम्भ ही किया था। चेचक रोग के सम्बन्ध में टीका लगाने का विचार , लोक प्रिय होने लगा था। उस समय लार्ड लीस्टर और लुई पास्टुर का जन्म भी न हुआ था। उदाहरण के लिए उस समय प्रयोगात्मक-मस्तिष्क-विज्ञान जैसी किसी चीज का नाम तक नथा और अँग्रेजी भाषा में समाज-शास्त्र शब्द का अस्तित्व भी न था। परन्तु अब भाफ और विजली की शक्ति के ज्ञान ने हमारे स्थान और दूरी की कठिनाइयों की जड़ काट डाली। जब नेपोलियन मास्को से वेतहास भागा आ रहा था तब वियना से पेरिस पहुँचने में अपनी यात्रा का अन्तिम पड़ाव समाप्त करने के लिए उसे ३१२ घंटे लगे थे। अब इसी दूरी को कोई यात्री रेलगाड़ी से ४८ घण्टे में या वायुयान से ८ घण्टे में तय कर सकता है। हम जिस समुद्र की पाँच दिन में पार करते हैं उसी को पार करने में सौ वर्ष पहले दो महीने लगे थे। हम एक शहर से दूसरे शहर को, एक देश से दृसरे देश को वायुयान द्वारा कुछ घण्टों में ही उड़ कर पहुँच जाते हैं। हमारी डाक वायुयान ले जाता है। अपनी मोटरों से हम एक राज्य से दूसरे राज्य में पहुँचते हैं और जिन वातों के देखने में हमारे पूर्वजों को एक महीना लग जाता था उनसे अधिक हम एक दिन में देखे जाते हैं। समुद्री तार और वेतार के तार से हमारा सम्बन्ध संसार के द्रतम भागों से बरावर बना रहता है। हजारों मील दूर वैठे हुए अपने मित्र से हम बात-चीत करते हैं। अपने पुस्तकालयों में बैठे-दैठे हम पाँच सो भील या उससे अधिक दूर से गाना-वजाना और व्याख्यान सुनते

हैं। जिन घटनाओं को कुछ ही लोग देख सके हैं वे फिल्म द्वारा सारी मानव-जाति के सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

सो वर्ष पहले एक मनुष्य मानव-शान के पर्याप्त अंश को हृदयङ्गम करके पूर्ण पण्डित हो सकता था, परन्तु आज वही बात विलकुल असम्भव है। शान की उत्तरोत्तार यृद्धि होने के कारण कोई आदमी अपना मार्ग तक मुश्किल से खोज सकता है। परिणामों के सारे समूहों को विना किसी जाँच-पड़ताल के चुपचाप स्वीकार कर लेना पड़ता है, क्योंकि अब हम विद्या के अधिकांश विभागों के विषयों में अवेश तक नहीं कर सकते।

मनुष्यों ने जो यह पेचीदा यन्त्र-समूह तथा विस्तृत ज्ञान का निर्माण किया है वे क्या मानव-जाति का सेवक वनकर रहेंगे या अपने निर्माता के संहारक वनेंगे ? विज्ञान से मनुष्य की शारीरिक शक्तियाँ हजारों गुनी अधिक हो गई और उसी परिमाण में रचना और विनाश दोनों के लिए उसकी च्याता वढ़ गई है। परन्तु इस च्याता का उपभोग भविष्य में कैसे किया जायगा? हम विनाशक शक्तियों की वृद्धि को कैसे रोक सकते हैं ? इन नवीन शक्तियों के प्रतिकार के लिए क्या हमारे पास तद्वतं आध्यात्मिक सामग्री है ? क्या शिच्चा काफी शीं गित से चल सकती है । उस नेतृत्व को फेवज पराभृत करने के लिए नहीं, किन्तु उन्नति की दौड़ में वरावर रहने के लिए।

खपर्यक्त प्रश्न भयंकर हैं। इनके उत्तरों में मानव-जाति का भविष्य निर्भर हैं। परन्तु स्पष्ट वात यह है कि वर्तमान पीढ़ी का कोई दुद्धिमान व्यक्ति इनका उत्तर नहीं दे सकता है। सन् १६१४ तक हममें से बिधकांश परिणाम सम्बन्ध में सन्तृष्ट और भविष्य के लिए भी प्रसन्न थे। मानव-जाति के विकास के लह्य तथा उसकी समृद्धि के सम्बन्ध में हमने खूब चिकनी-चिकनी बातें की, परन्तु अब हम समस्तते हैं कि हम कुछ नहीं जानते थे। भूठी कल्पनाओं से हम धोखे में पड़ गये। मानव-संहार के चार वर्षों ने हमारी आँखें खोल दी हैं। अब हम उस खन्दक को देखते हैं जिसके किनारे मानव-जाति खड़ी है।

सौ वर्षों के बाद क्या होगा, साधारण मनुष्य को इस विषय में स्थित उत्साह नहीं हुआ करता है, क्यों कि यह एक इतना लम्बा समय है कि उसके सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से एक शताब्दी कुछ मिनटों के ही बराबर है, क्यों कि सृष्टि के अनन्त जीवन में शताब्दी को मिनटों की उपमा देना किसी प्रकार अनुपयुक्त नहीं है। आज सन् १६२३ और २०२३ के बीच में जो कुछ मिनट बीतता है, उनमें संसार विकास मार्ग में कहाँ तक पहुँच जायगा, उसके विषय में विद्वान् बड़े ही रोंचकः अनुमान बाँध रहे हैं।

आधुनिक उन्नतिशील व्यवसायियों की धारणा है कि समय ही रुपया है, अतएव उनको जीवन की वर्तमान अवस्था से अधिक सन्तोष नहीं है क्योंकि अधिकांश समय खाने-पीने, खेलने-क़दने, सोने या ध्मने में विताना पड़ता है। जब लोगों का यह हद सिद्धानत है कि जी समय के अपन्य से जितना ही अधिक बचेगा, वह उतना ही अधिक सफल होगा; तब यह निश्चित है कि इस आदर्श की प्रांति में दिन प्रति दिन उन्नति होती जायगी। यह एक प्रकार से प्रत्यक् है कि यागामी शताब्दी में यातायात के साधनों में कल्पनातीत उन्नति होने वाली है, जिससे समय की भारी वचत हुआ करेगी। सोने के समय में भी कमी करने के विरुद्ध कोई वाधा नहीं दिखाई देती है। तीन तीन वोतल साफ करने वाले मनुष्य तो बहुत दिन हुए इस संसार से उठ गये। अभी कुछ, वर्ष पहले तक प्रथा थी कि व्यवसायियों को अपने इष्ट-मित्रों के साथ मोजन करने में घण्टों विता देना पहते थे। किन्तु बाज कल डवल रोटी और विस्कुट में ही उनकी तृति हो जाती है। अतएव सौ वर्षों में कार्यालय की टेविल पर वैठे वैठे ही जलपान कर लेना उनके लिए पर्यास होगा। वास्तव में वाज व्यवसायी की

किसी व्यर्थ काम में समय नष्ट करना बड़ा अखरता है। अभी टेलीफोन के द्वारा वह अपने मित्र के साथ केवल मिलने का समय निश्चित कर पाता है किन्त उसका जी चाहता है कि कोई ऐसी युक्ति निकल आवे जिससे वह टेलीफोन के द्वारा ही अपने मित्र को अपने पास बला सके। सी वर्षों में कम से कम टेलीफीन उसकी मीटरकार और टमटम, भोजनालय और शयनागार में सर्वत्र लगा दिया जा सकेगा और वह मौज से अपने मित्रों के साथ बातचीत किया करेगा। और आजकल की तरह उसका काम छोड़ कर 'सुनो' 'सुनो' को आवाज पर टेलीफोन के पास न दौड़ना पड़ेगा। सम्भव है, वह अपने मित्र के साथ केवल बातचीत ही न कर सके, प्रत्युत उसके दर्शन भी कर सके, हजारों कोसों की दूरी पर वैठकर व्याख्यान सुन लेना तो कोई बात ही न रह जायगी। उस समय बाधुनिक खेलों में लोगों को आनन्द नहीं आयेगा. दृसरों के कामों में छत्पाह दिखाना ही व्यवसायियों का खेल होगा। आजकल की तरह हजारों रुपयों का चन्दा करके अन्तरराष्ट्रीय अखाड़ों में भाला-वर्द्धी चलाने वालों को तैयार करना मूर्खता समको जायगी। विचार-शक्ति को सँमालने भर के लिए शारीरिक शक्ति की आवश्यकता रह जायगी, पहों को आवश्यकता से अधिक बढ़ाना जंगली भीलों और बन्दरों का काम सममा जायगा।

हमारी सड़कों का एक दूसरा ही रूप होगा। लन्दन की आमदरपत का प्रवन्ध करने के लिए नई-नई सड़कों का निर्माण करना पड़ेगा। आज भी लन्दन में यदि अमेरिका की भांति सोटरकार का प्रचार हो जाय तो एक नई समस्या उपस्थित हो। न जाने धरातल के नीचे कितनी सड़कें खोदना पड़े। फर्श पर चलना हमारे लिए अति कठिन हो जायगा, वाजार में एक से दूसरी दुकान पर आने-जाने के लिए चलती-फिरती सींद्यों की आवश्यकता होगी सम्भव है, बड़ी सड़कों पर छत डाल दी जान, क्यों कि बहुत ही थोड़े मूल्य में पिफेडेली सरीखी सड़क पाटी जा सकेंगी। धीरे-धीरे कहीं धृप, अधिक शीत या वर्ण में वाहर निकलना हमारे लिए यसम्भव हो जायगा। शायद बिना चश्मे के किसी का काम ही न चले। वायुयानों के द्वारा ही हम सारे संसार में दौड़ा करेंगे। उस समय आजकल की तरह चार-पाँच सील दर किसी स्टेशन पर नहीं उत्तरना होगा, वरन हम सीधे सुन्दर सड़क के किनारे किसी रम्य होटल की छित पर उत्तर सकेंगे। सड़कों पर गन्दगी का नाम नहीं रहेगा, रात्रि भर विजली की रोशनी जगमगाती रहेगी, कुहरे की धुन्ध रोकने का भी प्रवन्ध हो जायगा और शोरगुल भी मिट जायेगा। तब भला कीन आदमी इन सड़कों को छोड़ना चाहेगा।

इसी प्रकार हमारे घर भी अधिक सुन्दर होते जायँगे, शीत से इमारी पूर्ण रचा हो सकेगी। मनुष्य मात्र की आराम चाहने की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। मोटरकार में परदे के बिना अब काम नहीं चल सकता क्योंकि उसके विना हवा असहा हो जाती है।

केन्द्र स्थानों में विजली के वड़े वड़े संग्रहालय वन जायेंगे, जहाँ से यथेष्ट विजली की शिक मिन सकेगी। सड़कों को घड़ियाँ, और सम्भव है हमारी जेव-घड़ियाँ उसी शिक के द्वारा चला करें। कपड़े पहनने में आघ घंटे से अधिक समय न लगेगा और आवश्यकता होगी तो विजली के द्वारा उनमें गरमी भी पहुँचाई जा सकेगी। मोटरकारों में हर प्रकार का आराम होगा, संग्रहालयों से उनमें विजली की शिक भी भर ली जाया करेगी। साधारण गाड़ियों की भी चाल वढ़ जायगी और वायुयान तो इस तेजी से चलेंगे कि यातायात के वर्तमान साधन उसी प्रकार प्रतीत होने लगेंगे जिस प्रकार आजकल वैलगाड़ी। विचार-परिवर्त्तन किस द्वागित से होगा यह अभी कल्पना के वाहर है। सम्भव है इंगलेण्ड से महाद्वीप पर जाने के लिए कोई रास्ता खोदा जाय क्योंकि टापू उन्नति की दौड़ में दौड़ने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

एक शताब्दी के बाद शासन-व्यवस्था का क्या रूप होगा १ वर्तमात. -राजनैतिक प्रगति को देखते हुए इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। शासितों को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी अथवा नहीं, यह अभी सन्देहजनक है। वर्रामान प्रजा सत्तात्मक-प्रणाली के अनुसार प्रजा को शासन में वास्तविक अधिकार प्राप्त हो सकेंगे, यह कहना महाकठिन है। हाँ एक वात प्रत्यच्च-सी है कि फिर शीघ्र ही एक संसारव्यापी महासमर होगा, और वड़ा भयंकर समर होगा, इतना भयंकर कि विगत यूरोपीय महायुद्ध उसके आगे वच्चों का खेल मालुम होगा। विज्ञान के फूल में यह एक वड़ा भारी काँटा है। गैस और किजली के द्वारा मनुष्य के प्राण हर लेना तो कोई बात ही न रह जायगी। शीघ्र से शीघ्र और घोर से घोर प्रलयकारी यन्त्रों का निर्माण होगा। वैज्ञानिक उन्नति से उदार वृत्तियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों को अधिक उत्तेजना मिलने की संभावना है।

समाज में भी भीषण परिवर्तन की सम्भावना है। सन् २०२३ तक स्त्रियों का स्वातन्त्र्य-युद्ध का यदि और कुछ परिणाम न हुआ तो कम से कम इतना तो होगा कि वे पुरुषों के समान कपड़े अवश्य पहनने लगेंगी। अपराधियों को, सम्भव है, कठिन दण्ड देने की प्रथा बिलकुल एठ जायगी। यह भी सम्भव है कि अमेरिका की वर्त्तमान अवस्था के अनुसार मनुष्य दिन प्रतिदिन एक-दूसरे से अधिकाधिक एदासीन होते जाया। हुछ भी हो, जिस प्रकार आज हम कहते हैं कि हमारे पुरखा बड़े भोले भाले थे, आश्चर्य नहीं कि उसी प्रकार को वर्ष के बाद हमारे बाल-बच्चे हमारी अल्पज्ञता पर हँसने का दावा करने लग जाया।

रिस्कित ने अपने एक प्रनथ में लिखा है, 'विज्ञान की उन्निति का यही फल हुआ कि उससे प्राण-संहारक यन्त्रों के आविष्कार हुए।' एक दूसरे विद्वान् जार्ज गिर्सिंग ने कहा है, 'मैं विज्ञान से उरता हूँ और उससे मेरी घृणा भी है, क्यों कि मेरा यह विश्वास है कि अभी दीर्घकाल तक वही मानव-जाति का सबसे प्रवल शत्रु रहेगा। इसी तरह अन्य कई विद्वानों ने भी विज्ञान को मनु'यों का संहार भी माना है। उनका

कथन है कि उसी से हमारा जीवन अव्यवस्थित हो रहा है। परन्त अब विज्ञान की गति रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। लोग चाहें उसकी निन्दा करें या प्रशंसा उसकी उत्तरीत्तर उन्नति ही होती जायगी। गत पचास वर्षों में विज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इस काल में जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए। सच तो यह है कि हम विज्ञान के द्वार तक पहुँच चुके हैं और अब शीघ ही हम उन शक्तियों का पता पा लोंगे जो अभी मनुष्यों के लिए कल्पनातीत हैं। इन शक्तियों का उत्योग मानव-समाज की कल्याण-खुद्धि में किया जायगा या नहीं, यह समाज के नेता सोचें। विज्ञान का इस प्रश्न से सम्बन्ध नहीं है। हमारा तो यह कर्त व्य है कि हम अपने को उन शक्तियों के उपभोग करने के योग्य बनावें जिन्हें वैज्ञानिक प्रकृति के अनन्त राज्य से ला रहे हैं। यदि हम योग्य होंगे तो विज्ञान मानव-जाति के लिए अवश्य श्रेयस्कर होगा। यदि युद्धों में वैज्ञानिक सिद्धांतीं का दुरुपयोग किया जाता है तो उसका उत्तरदायित विज्ञान पर नहीं है। उसी तरह यदि प्रकृति के सौन्दर्य से युक्त गाँव के स्थान में तंग सड़क, दुर्गन्धपूर्ण नाली और गन्दे मकानों से युक्त और दरिद्रता-ग्रस्त नगर बस जायें तो उसे हम विज्ञान की उन्नति नहीं कहेंगे। यह तो मनुष्य की स्वार्थपरायणता और लोभ का फल है। इसलिए विज्ञान की निन्दा करने के स्थान में हमें मनुष्यों में सद्धमं का प्रचार करना चाहिए। धर्म ही से मानव-जाति ठहर सकेगी। धर्माधर्म का ज्ञान लुप्त हो जाने से मनुष्यों का शीघ ही संहार हो जायगा। वह समय दर नहीं है जब एक ही मनुष्य के पास इतनी शक्ति हो जायगी कि वह सिर्फ एक बटन दबाकर एक समूचे नगर को नष्ट कर देगा। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग होने लगेगा तो सचमुच प्रलय-काल उपस्थित हो जायगा।

भारतीय संस्कृति और धर्म

धर्म का ऐक सनातन रूप है, जो सभी देशों और सभी युगों में विद्यमान रहता है। मनुष्य-समाज का विकास होता रहता है, और उसके साथ संस्कृति और सभ्यता का भी विकास होता रहता है। विकास का मुल-सिद्धांत यह है कि वाह्य अवस्था के साथ आभ्यांतरिक अवस्था का सामंजस्य करके प्रकृति का क्रमशः विकास होता है। जितना ही वह सामंजस्य विस्तृत और पूर्ण होगा उतना ही प्रकृति का विकास होगा । संसार में उन्नति का मूल-मंत्र यही सामंजस्य-विधान की चेष्टा है। अन्तर्जगत् और वाह्य जगत्, दोनों का योग ही विश्व-शकृति है। उसमें ये दोनों ही सत्य हैं, और दोनों एक-दूसरे की अपेचा करते हैं। इन दोनों में जैसा सम्बन्ध स्थापित होता है, उसी से विश्व में विकास और परिवर्तन होते हैं। प्रकृति के सभी कार्यों में सत्य की सत्ता है। विश्व के विकास में भी सत्य है। अभी तक संतार का जैसा विकास होता गया है, वह अम्लक नहीं है। ऊँच-नीच का मेद अवश्य है। वाह्यजगत् और श्रंतर्जगत् में जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह जितना ही पूर्ण होता है, उतना ही उत्झष्ट उतका विकास भी होता है। प्राणिजगत में वाह्य अवस्था के लिए निक्रप्ट जीवन के शरीर-यन्त्र जितने उपयोगी हैं, उससे अधिक उपयोगी उत्कृष्ट जीवन के शरीर-यंत्र हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध की पूर्णता के ऊपर ही विकास का उत्कर्ष और अपकर्ष निर्भर है। नियम के अधीन जगत् में भिन्न-भिन्न जीवों की उत्पत्ति स्थिति और उन्नति होती है। शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी अवस्थाओं के विकास में यह उपयोगिता न्यूनाधिक्य भाव से रहती है। वाह्य अवस्था हमारी प्रकृति पर सदैव अपना प्रभाव डालवी है और उसी के

अनुरूप हमें वनाना चाहती है। यह प्रभाव प्रकृति में जैसा प्रतिफलित होता है, वैसा ही उसका विकास होता है। अतएव हमारी प्रकृति के विकास में वाह्य अवस्था प्रवर्तक के रूप में वर्त्तमान रहती है। इसी से वाह्य अवस्था पर ध्यान रखकर धर्म के भी विकास की व्याख्या करनी होगी। हमलोगों का उन्नत इंद्रिय-समूह, उत्कृष्ट सहज बुद्धि, पवित्र नैतिक वल, ये सब साधारण जीवन व्यापार के ही परिणाम हैं। यदि हम किसी परिणाम अथवा परिवर्तन को सममना चाहते हैं, तो हमें वाह्य विषय के साथ उसका सम्बन्ध देखना होगा। इसी सम्बन्ध-सूत्र से विकास के समस्त रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। जगत् के सभी परिणामों का मूल अतीत में विद्यमान है। अतीत के सम्बन्ध-बंधन से ही जीवन के समस्त व्यापार शृंखलाबद्ध हैं। इस प्रकार हम सभी परिणामों में विकास की अविचित्रन्न धारा- भूतकाल से वर्तमानकाल तक देख सकते हैं। किसी भी परिणाम का यथार्थ रूप देखने के लिए हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना पड़ेगा—(१) उसके मूल का बाह्य विषय, (२) उसके विकास की धारा, (३) उसका वर्त्तमान रूप। इसी रीति से अनुसंधान करके विद्वानों ने प्राकृतिक विज्ञान की रचना की है। परन्तु मनुष्य का जो नैतिक और धार्मिक विकास हुआ है, उसके मूल में वाह्य विषय को उपलब्ध करना सहज नहीं है। इसी से उसके सम्बन्ध में कोई भी परिष्कृत सिद्धान्त निश्चित नहीं हुआ है। हर्बर्ट स्पेंसर ने यह स्थिर किया है कि पृथ्वी पर ऐसा कोई भी विकास नहीं है, जो वाह्य विषक-मूलक न हो। प्रकृति के किसी भी विभाग में ऐसा कोई भी परिणाम प्रत्यज्ञ नहीं है, जिसका अवलंव वाह्य विषय न हो। किन्तु नैतिक तथा धार्मिक भाव प्रत्यच नहीं हैं। इसी कारण वाह्य विषय से उनका सम्वन्ध द्वुँदना कठिन हो जाता है। परन्तु प्रत्यत्त विषय के दृष्टांत से मूल का अनुसंघान करने पर वाह्य विषय से **उसका सम्बन्ध लिव्हत होने** लगता है।

बादि काल से मनुष्यं समाज में नीति और धर्म-ज्ञान का परिचय-

पाया जाता है। पृथ्वी पर ऐसी कोई असम्य जाति नहीं हुई, जिसमें इन दोनों भावों का अंकुर न देखा गया हो। नैतिक विकास का कारण है समाज को स्थिति और जन्नित । इन भावों का लोप हो जाने से समाज में उछ्यञ्चलता फेल जाती है। समाज के कल्याण के लिए मनुष्यों की कुछ मनोवृत्तियाँ अनुकूल हैं, और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल मनोवृत्तियों की स्फूर्ति से मनुष्य का नैतिक जीवन संगठित होता है। एक कारण और भो है। वह है अपाधिव जगत् की भावना।

फिस्के नामक विद्वान ने धर्म-विज्ञान के विकास का वर्णन इस प्रकार किया है- -पृथ्वी के इतिहास में उस समय एक विशेष परिवर्तन-काल उपस्थित हुआ, जब मानव-जीवन मे प्रेम का बाविर्माव हुआ। सब सनुष्य की विकासोन्स्रख आत्मा में पाप और पुण्य की धारणा का उद्गम होने लगा। परिवार का संगठन होने लगा। समाज-बन्धन का आरम्भ हुआ। निराकार भावों ने साकार भाषा का रूप ग्रहण किया। इसी समय से मनुष्य का विकास उच्चतम अवस्था की ओर अप्रसर होने लगा, और शारीरिक विकास के साथ सभ्यता का संयोग हुआ। इसी के बाद हम मानवीय आत्मा को, संसार के अस्थर ड्यापार को छोड़ कर, अज्ञात रूप से एक नित्य सत्ता की ओर प्रयाण करते हुए देखते हैं। अदृष्ट जगत् से एकता स्थापित करके मनुष्य अपने अन्तर्गत भावों को निश्चित करने की चेष्टा करने लगा। इसमें संदेह नहीं कि उसके मानसिक भाव पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सके थे। उनकी अभिव्यक्ति में विलक्षणता भी थी। परनतु मुख्य बात यह है कि जीवन के प्रारम्भ काल में ही मनुष्य एक अतीन्द्रिय नैतिक जगत से अपना संबंध स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। यह बात उपेचणीय नहीं है, क्यों कि मानव समाज के विकास में इसी धार्मिक भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। यदि जीवन के आदिकाल में इस धार्मिक भावना का उद्गम न होता, तो मनुष्य समाज किस दशा को पहुँच जाता, इसका-अनुमान तक हम नहीं कर सकते। यह सभी को स्वीकार करना पड़ता है कि मानव-समाज के अस्तित्व का मुख्य कारण धर्म है।

जो अदृष्ट है, जो अनुभव गम्य नहीं, उसके लिए मनुष्य इतना प्रयास क्यों स्वीकार करता है? अदृष्ट जगत् का अस्तित्व मानकर उसके लिए वह क्यों इतना ज्याकुल होता है १ विद्वानों का कथन है कि ससीम मनुष्य ने असीम को पाने के लिए जन्म लिया है। अपूर्ण मनुष्य पूर्ण पुरुष में ही जाकर सम्पूर्णता प्राप्त करता है। अनन्त की आकांचा स्वाभाविक है। मानवात्मा की स्वाभाविक गित अनन्त की ओर है। अनन्त की आकांचा से हो मनुष्य में धर्म-भाव की उत्पत्ति होतों है। मैक्समूलर ने इसी सिद्धान्त की पृष्टि में लिखा है कि सभी धर्मों के मूल में अनन्त की धारणा विद्यमान है। जिस प्रकार 'द्यान' इन्द्रियग्राह्य है और सीमाबद्ध पदार्थ के तत्वानुसंधान में व्यास है; उसी प्रकार 'विश्वास' असीम के अनुसंधान में व्यस्त है।

अनन्त की इच्छा मानव-जीवन में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो गई है। दार्शिनकों का कथन है कि ज्ञान, प्रेम और इच्छा, इन्हों से मनुष्य-जीवन है। इन तीनों की गित किस ओर है? क्या ज्ञान की—कभी तृप्ति होती है? प्रतिदिन नये-नये सत्यों का आविष्कार होता जा रहा है; तो भी विद्वान् लोग सत्य के अनुसंधान में संलग्न हैं। वात यह है कि सत्य का यथार्थ स्वरूप अनन्त ईश्वर है। इसी से ज्ञान का अंत नहीं। यही बात प्रेम और इच्छा के विषय में कही जा सकती है। प्रेम और इच्छा की तृप्ति किसी असीम वस्तु से संभव नहीं। यही कारण है कि सनुष्य अनन्त ईश्वर पर विश्वास करता चला आ रहा है।

अनन्तकाल से मनुष्य उसी अलिच्ति जगत् के रहस्यागार को देखने के लिए व्याकुल हो रहा है। वह जानता है कि इह जगत् ही उसका सर्वस्व नहीं है; यहीं उसकी जीवन-यात्रा की समाप्ति नहीं होती! परन्तु उसका गन्तव्य स्थान कहाँ है, यह उसे ज्ञात हो या

बहात, वह आगे ही बढ़ता जायगा। उसका सारा प्रयास उसी के लिए है। प्राचीन संस्कृति की अलौकिक कल्पना में उसी अनन्त का आभास पाया जाता है। मध्यकालीन संस्कृति के भक्तिवाद में उसी का दिग्दर्शन हुआ है। बाधुनिक संस्कृति में भी उसी को ओर हमारी प्रशृत्ति है। यही प्रयास मनुष्य के साहित्य में प्रकट होता है। यही उसकी कला में दिश्तित होता है। विज्ञान और दर्शन-शास्त्र में उसी को चिन्ता रहती है। मैत्रेयी को तरह मनुष्य की आत्मा यही कहती है— मैं उसे लेकर क्या करूँ, जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती ? संस्कृति का यही चिरंतन भाव है। धर्म का यही सनातन भाव है। यहीं संस्कृति और धर्म का सम्मलन होता है।

प्रकृति के साथ मनुष्य अपना जैसा सम्बन्ध स्थापित करता है; वही उसका धर्म हो जाता है। संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं, उन सबका उद्देश्य एक ही है। वह है विश्व से मन्ष्य का सम्बन्ध स्थापित करना। मनुष्य को प्रकृति ने चारों ओर से घेर रखा है। वह उसी में आबद है। परन्तु किसी अति प्राकृत और अतीन्द्रिय सत्ता पर मनुष्य का विश्वास चिरंतन है। वह जानता है कि प्रकृति से भी परे कोई है। वह क्या है; इसे वह अच्छी तरह भले ही न समम सके, किन्तु उसे यह दृढ विश्वास है कि जब तक वह इस प्राकृतिक माया-पाश को काटकर ऊपर नहीं उठेगा, तकतक वह अपना यथार्थ धर्म नहीं देख सकेगा। प्रकृति ही मनुष्य के हृदय में विस्मय का भाव उत्पन्न करती है। उसी के साथ मनुष्य का पहला सम्बन्ध होता है। कभी वह प्रकृति को मायाविनी समसकर उससे अपना सम्बन्ध छोड़ देना ही श्रेयस्कर सममता है बौर कभी वह उसको शक्ति-रूप में देखकर अपने को उससे योग युक्त करना चाहता है। परन्तु प्रकृति चाहे शक्ति हो या माया, उसी के भीतर हमारी यात्रा होती है। यदि वह बंधन है, तो भी बिना उस बंधन को स्त्रीकार किये मुक्ति का जपाय नहीं है। प्रकृति से हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। अब विचारणीय

यह है कि संसार के भिनन-भिनन धर्मों ने इस सम्बन्ध को किस रूप से स्वीकार किया है?

प्रकृति के साथ हमारा पहला सम्बन्ध व्यावहारिक होता है। पृथ्वी पर अवतीर्ण होते ही मनुष्य को प्रकृति से व्यवहार करना पड़ता है। कभी एक ऐसा समय था, जब मनुष्य प्रकृति के ही आश्रित था। परन्तु अव सर्वत्र मनुष्य की गति है। प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करने में मनुष्य ने सबसे पहले यह शिचा ग्रहण की कि हमें अपने जीवन की रच्चा के लिए संग्राम करना पड़ेगा। जो संग्राम-शील हैं, जिनकी गति अपतिहत है, वे ही प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध रख सकते हैं। जिनमें यह शक्ति नहीं, उन्हें प्रकृति स्वयं नष्ट कर देती है। इसी सम्बन्ध से मनुष्य की कार्यकारिणी शक्ति प्रबुद्ध हुई, और इसी से मनुष्य प्रकृति-पूजा को ओर आकृष्ट हुआ। प्रकृति की इन्द्र, चन्द्र, वायु, वहण आदि प्रचण्ड शक्तियों के आगे मन्ष्य की शक्ति अत्यन्त चुद्ध प्रतीत होती थी। अतएव उनके प्रति मनुष्य के हृदय में विस्मय और आतंक का होना स्वामाविक था। इसी से उनको अपने अनुकूल करने के लिए मनुष्य उनकी पूजा करने लगा। जब उसे यह जान पड़ा कि प्रकृति की ये शक्तियाँ उत्रके अनुकृत हैं, तब उनके हृदय में भक्ति और आनन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ये ही तीन भाव विस्मय, भक्ति और आनंद---मनुष्य की समस्त धार्मिक भावनाओं के मृत कारण हैं। इन भावों को मनुष्य ने अपनी सभ्यता के प्रथम स्तर में ही प्राप्त कर लिया।

प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित होते ही पहले पहल यही जान पड़ता है कि प्रकृति हमारे विरुद्ध है। प्रकृति में व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है। उसका जो एक उद्देश्य है, उसी की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु है। वह असंख्य का विनाश कर अपने इस उद्देश्य की पूर्ण करती है। परन्तु जब प्रकृति से अधिक परिचय हो जाता है, न्तव हम उसका अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। तब हम यह जोन जाते हैं कि प्रकृति के इस संग्राम में प्रतियोगिता नहीं, सहयोगिता है। प्रकृति केवल सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने में व्यस्त है। च्यक्तित्व की पूर्णता तभी होती है, जब ब्यक्तित्व विश्व के मंगल में विद्युत हो जाता है। प्रश्नृति के त्याग, इच्छा के विसर्जन-और वहंकार के नाश से व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। जब हम प्रकृति के इस बृहत् उद्देश्य से अवगत हो जाते हैं, तब हम उसे अपनी सहचरी सममने लगते हैं। तब हमसे उसका जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह साहचर्य का होता है। इस साहचर्य में मनुष्य केवल आनन्द देखता है। अनन्त आकाशमण्डल, उत्तङ्ग पर्वतराशि, शस्य-श्यामला पृथ्वी और असीम समुद्र को देखकर वह विस्मय से अवश्य अभिभूत होता है। परन्तु यह विस्मय हो तो प्रेम है। जितना ही प्रकृति से उसका सम्बन्ध घनिष्ट होता है. उतना ही अधिक उसका विस्मय बढता है। आकाशमण्डल के नत्तत्र, लोकों का रहस्य, पृथ्त्री का चिरनवीन सौन्दर्भ, समुद्र का अन्नय-भंडार सभी को वह देखता है, और उसमें एक ही नियम की विद्यमानता पाता है। जहाँ जीवन है, वहाँ गति है, और वहीं वैचित्रय की अपरिमिति लीला भी। जहाँ मृत्यु है, वहां स्थिति है और वहीं एकता का रहस्यमय दृश्य भी। सब एक-दूसरे से आबद्ध हैं। समुद्र से मेघ जल लेता है, और मेघ से पृथ्ती जल पाती है। अनन्त आकाश और पृथ्ती, दोनों को एक ही सन में किसने वाँघ दिया है? मनुष्य अपने को 'मैं' कहता है, और प्रकृति को कहता है कि यह मैं नहीं हूँ। किन्तु मनुष्य और प्रकृति, दोनों एक-दसरे के ही दो भाग है।

प्रकृति ने तीसरा सम्बन्ध जब स्थापित होता है. तब प्रकृति शेय होती है, और मनुष्य शाता। व्यवहार से प्रित्य होता है और मनुष्य की कर्म-शक्ति विकसित होती है। इसी से नैतिक धर्म का जन्म होता है। भाव के बानन्द में संशाम की कठिनता दूर होती है और मनुष्य का भोग पूर्ण होता है। इसी से प्रेममय धर्म की उत्पत्ति होती है। सबके अन्त में जान है। तब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता, तबतक नीति और प्रेम में अपूर्णता ही रहती है। यही कारण है कि धर्म में कर्म, मक्ति और ज्ञान, इन तीनों का सम्मिलन होता है।

संसार में जितने भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनके मूल में ऐसा कोई भी भाव नहीं वर्त्त मान हैं, जो मानव-जाति की एकता का बाधक है। जब कभी किसी देश में कोई धार्मिक आन्दोलन हुआ है, तब धर्म ने अपनी रसमूर्त्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। उसने सभी कठोर बन्धनों को तोड़कर मनुष्य-जातियों को एक करने का प्रयत्न किया है। भगवान् ईसामसीह ने प्रेम और भिवत का जो प्रवाह वहा दिया था, वह यहूदी-धर्म के कठिन शास्त्र-वन्धन में अवस्द नहीं हुया। वह स्रोत अभी तक जातियों की स्वार्थ-शृंखला को तोड़कर मनुष्य को मिलाने की चेष्टा कर रहा है। भगवान बुद्ध की विश्व-मैत्री और करणा ने समस्त एशिया को एक कर दिया था। नानक, कवीर और चैतन्य, इन सभी साधकों ने रस के प्रवाह से मनुष्य के कुत्रिम प्राचीरों को ढककर मनुष्यत्व का एकत्व स्थापित कियाथा। जब धर्म और साधना का यह रस सूख जाता है, तब उसमें फिर एक अटल कठोरता आ जाती है। उसमें प्राण का आवेग और जीवन का सौन्दर्य नहीं रह जाता। जहाँ साधना का उरकर्ष है, वहाँ गति निर्वाध होगी, मान वैचिन्य पूर्ण होगा और माधुर्य का नित्य विकास होगा।

एक वार किसी ने महात्मा कवीर से प्रश्न किया—ब्रह्म अरूप है या सरूप, वह एक है या अनेक १ कवीर ने उत्तर दिया—उसको फेवल अरूप कहना मिथ्या है, और उसको किसी विशेष रूप में समम्पना मी मिथ्या है। वह सभी रूपों में है। वह है, इसी से तों यह रूप है। यदि वह न रहे, तो परमाणु की मी स्थिति असम्भव है। वह सर्वरूप है, अतएव किसी विशेष रूप में आवद्ध नहीं है। वह रूपी की समष्टि भी नहीं है। इस दृष्टि से वह अरूप भी है। इस प्रकार जसको अरूप या सरूप समसना भ्रम है। वह सब बन्धनों से अतीत है। फिर रूप या अरूप का बंधन कैसे सम्भव है १ इसी प्रकार संख्या का भी बन्धन है। वह न एक है न अनेक। वह तो संख्या से अतीत है। अतएव एक-एक देश में उसका एक-एक रूप है। नारायण के रूप में वैचित्र्य का अन्त नहीं है। भिन्न-भिन्न साधक वपनी भिन्न-भिन्न साधनाओं में नारायण के भिन्न-भिन्न रूप और रस को प्राप्त करते हैं। वैचित्र्य ही प्रत्येक साधक को अमृत का दान करता है। यही बात रैदास ने भी कही है। उनका कथन है कि वैचित्र्य ही साधना का अमृत है। साधक का अमृत भी वैचित्र्य-पूर्ण है। जनके तीथों में वैचित्र्य है, क्योंकि जो स्वामी हैं, वे वैचित्र्य केही अमृत में अवगाहन करते हैं। संस्कृति में यह धर्मवैचित्र्य उसके सार्वभौमिक आदर्श का वाधक नहीं है। इससे उसकी पुष्टि ही होती है। जो लोग इसी वैचित्र्य को विरोध समसकर पारस्परिक विद्वेप में पड़े रहते हैं, वे धर्म के पथ से बहुत दूर हैं। संस्कृति में विरोघ के लिए स्थान नहीं है—सर्वत्र सम्मिलन का ही भाव विद्यमान है। हमारा विश्वास है कि यदि कभी संसार में वसधैव कुट्रम्बकम् के मूलमंत्र का प्रचार होगा, तो धर्म की इसी संस्कृति के ही द्वारा होगा।

इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न युगों में जो बादर्श प्रचलित होते हैं, उनमें कभी जान की प्रधानता होती है, कभी धर्म की और कभी कर्म की। युग का बादर्श महापुरुषों में हो व्यक्त होता है। ऐसे महापुरुष संसार के भिन्न-भिन्न चेन्नों में काम कर जो गौरव उपलब्ध करते हैं, उसी पर उनकी कीर्ति बाक्षित रहती है। यह संभव नहीं है कि किसी एक ही दृष्टिकोण से उन सबके चरित्र के महात्म्य की सभीचा हो सके। आचीन युग और मध्य युग में धर्म के भीतर जो एक शक्ति थी, उसके कारण उन युगों में धर्म के आधार पर समस्त मानव-जाति में नव-चेतना-शक्ति की जायित हुई। वह शक्ति केवल एक ही चेत्र में प्रकट नहीं हुई। उसी के कारण जीवन का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। उसके वाद कर्म के साथ ज्ञान के आधार पर नव-आदर्श निर्मित हुए। उससे मानव-जाति को नवपेरणा-शक्ति मिली।

आधुनिक युग का बादर्श है मनुष्यत्व की विजय स्वाधीनता और देश-प्रेम। उसी के कारण साहित्य और कला दोनों में व्यक्तित्व की प्रधानता हो गई है। आधुनिक साहित्य में जो विचार-वैचित्र्य, भाव-वैचित्र्य और चिरत्र-वैचित्र्य है, उसका कारण व्यक्तित्व की यही प्रधानता है। अब कर्मचेत्र भावचेत्र से ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि उनमें पार्थक्य नहीं किया जा सकता। यथार्थ जीवन से भिन्न कला का भाव-जगत् अब निर्मित नहीं हो सकता। अब राजनीति के साथ समाजनीति और समाजनीति के साथ विज्ञान का सम्मिलन हो गया है। किसी भी चेत्र में परिवर्तन होने से उसका प्रभाव जीवन के समस्त चेत्रों पर पड़ता है। यह सच है कि सभी के कार्यचेत्र एक से नहीं होते। भिन्न-भिन्न कार्यचेत्रों में काम कर लोग संसार को उन्तित के पथ पर ले जाते हैं। कुछ राजनीति के चेत्र में यश उपलब्ध करते हैं, कुछ विज्ञान के चेत्र में लब्ध-प्रतिष्ठ होते हैं और कुछ साहित्य और कला के क्षेत्र में महिमा प्राप्त करते हैं।

कुछ समय पहले वेल्स साहब ने विश्व के इतिहास का मन्थन कर छ: महापुरुषों के रूप में छ: रत्न द्वाँद्रकर निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने लिए जो कसीटी निश्चित की, वह यह थी कि किसकी कृतियों का कितना अधिक प्रभाव कितने अधिक लोगों पर कितने काल तक विद्यमान रहा। उसी से किसी महापुरुष के जीवन के सच्चे जीरव की यथार्थ परीचा हो सकती है। भगवान ईसा मसीह ने अपने जीवन-काल में कुछ घोड़े ही लोगों पर अपने उपदेशों का प्रभाव डाला। परन्तु छनके बाद उनके अनुनायियों ने उनके धर्म का जो प्रचार किया, उसके कारण लभी तक उनका यह धर्म एक शक्ति के रूप में विद्यमान है। उसी धर्म के प्रचार से साहित्य और कला की उन्नति के साथ मानवीय सभ्यता का भी विकास हुआ । संसार के दुर्गम स्थानों में भी जसी धर्म की दीप्ति के कारण शान का नव-आलोक प्रज्वलित हुआ। इसी प्रकार भगवान बुद्ध के उपदेशों का प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ा। यह सच है कि घर्म की जो भावना जीवन में नवप्रेरणा देती है, वही जब किसी एक सम्प्रदाय से अवस्त हो जाती है, तब वह अपनी गति को तीव्रताको खो बैठती है। उसमें एक संकीर्णता आ जाती है और तब उसमें ऐसे दीप जलन्म ही जाते हैं. जो जन्नति के पथ पर अवरोधक बन जाते हैं। सभी धर्मों के इतिहास से यह प्रकट होता है कि प्रारम्भ में उनके कारण जो एक नव-शक्ति उत्पन्न हुई. वह कुछ काल के वाद लुप्त सी हो गई। सभी धर्मों के संस्थापकों ने विश्व-प्रेम और विश्व वंधुत्व को स्थापित करने का प्रयास किया। परन्त सभी के द्वारा अन्त में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि हुई, जिनके कारण भेम का स्थान विरोध ने ले लिया और बंधुत्व के स्थान में शत्रुता का ही प्रचार हुआ। धर्म के नाम से जाने वितने युद्ध हुए, हत्याएँ हुई और अत्याचार तथा उत्वीड़न हुए।

भगवान बुद्ध ने संसार के दुःखों ने द्रवित होकर छन्हें दर वरने के लिए कठीर तपस्या के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। छन्हें विश्वास घा कि छनके पथ पर अग्रसर होकर संसार दुःखों से छन्मुदत हो जायगा। अन्य धर्मों के आचार्यों ने भी सुनीति सद्धमं के पथ पर निश्चित किये। फिर भी संसार से न दुःख दर हुआ और न दुःगित। बात यह है कि मानव-जीवन में इतना वैचिन्य है और इतनी अधिक गितशीलता है कि छसके लिए कोई एक निश्चित मर्यादा स्थापित नहीं की जा सकती। इसीलिए नीति बनती है और भंग होती है, आदर्श निर्मित

होते हैं और विज्ञप्त होते हैं। मिन्न-मिन्न युगों में मिन्न-मिन्न बादशों और विचार-धाराओं का प्रचार होता रहता है। जो महापुरुष होते हैं, वे अपने समय में एक ऐसी विचार-धारा प्रवर्तित कर देते हैं, जिसके कारण जीवन प्रगतिशील हो जाता है। वेल्स साहब ने जिन छः महापुरुषों की खोज की, उनका महारम्य इसी में है कि उन्होंने अपने-अपने युग में माव, कर्म और ज्ञान के विकास के लिए मूल गेरणाएँ विकसित कर दों।

भिन्न-भिन्न युगों में जिन भिन्न-भिन्न वादेशों का प्रचार हुआ उनमें मानो भिन्न-भिन्न वर्णों का व्याधिपत्य संसार में रहा है। नाति-भेद एकमात्र भारतवर्ष में भले ही प्रचलित हो, पर गुण और कर्म ही हिष्ट से बाह्मण, चित्रम, वैश्य और श्रद्ध तो सभी देशों में विद्यमान है। यदि बाह्मणों पर ज्ञान और धर्म के प्रचार का भार है तो चित्रमों र देश-शासन और देश-रच्चा का उत्तरदायित्व है। वाणिष्य और यवसाय की उन्नति वैश्यों पर निर्भर है और मजदूरों तथा कुक में के ज्ञाम की उन्नति वैश्यों पर निर्भर है और मजदूरों तथा कुक में के ज्ञाम मार है। प्राचीन काल में ब्राह्मणों का आधिपत्य था, तब वित्र धर्म की प्रधानता थी। धर्म का लच्च ज्ञान था और ज्ञान का ज्ञाम में की प्रधानता थी। धर्म का लच्च ज्ञान था और ज्ञान का ज्ञाम मों होता था। ऐहिक कामनाओं में लिस रह कर भी लेग कामनाओं के दमन और पार्थिक विभूति के त्याग में गौरव खते थे।

एक ओर धार्मिक विधि-विधानों का निर्माण हुआ और दूसरी

रि धार्मिक भावना से जन-समूह को प्रेरित कर उनका जातीय संगठन

कया गया। जिस जाति में धार्मिक विश्वास की जितनी ही अधिक

इता थी जसमें जतनी ही अधिक शक्ति आई। फिर च्रित्रियों का

भुत्व हुआ। शौर्य के प्रदर्शन में जीवन की गरिमा देखी गई।

वंखों के त्राण में ही शौर्य की सच्ची परीचा थी। लोगों को यह हुदू

निश्वास था कि जहाँ धर्म है, जहाँ नीति है, जहाँ सत्य है वहीं सच्ची निजय प्राप्त होगी । इसके बाद, आधुनिक युग के आरम्भ में व्यवसाय-चृद्धि की कामना से जो साम्राज्य स्थापित हुए उनमें वैश्यों की प्रधानता हुई। अर्थ ही राजनीति का सुरूप लद्दय हो गया। शौर्य के युग में जो उदारता थी वह लुप्त हो गई। निश्छल व्यवहार, निष्कपट नीति. त्याग और साहस सभी का लोप हो गया। अर्थ-बृद्धि के लिए उद्योग किये जाने लगे और कूटनीति की महिमा बढ़ी। विज्ञान भी अर्थ का कृत दास हो गया। तब एक जाति अन्य जाति का आर्थिक शोपण करने लगी। सुसलमानों के शासन-काल में अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खोकर भी जो भारत धन-धान्य से पूर्ण था वह थोड़े ही दिनों में सभी प्रकार से दरिद्र और हीन हो गया। अब कुछ समय से मजदूरी अथवा श्रमजीवी शुद्धों का प्रभुत्व होने लगा है। अध्यापक पूर्णसिंह जी ने लिखा है--याद रखिए, बिना शृद्रपूजा के किंवा कृष्ण और मूर्ति-पूजा शालियाम की पूजा होना सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि सारे धर्म-कर्म ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं। उन्हों का कथन है कि 'अब पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। अब वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरों का काम लिया जाता है। नया साहित्य अब मजदूरी के हृदय से निकलेगा। मजदरों के कण्ठ से वह नई कविता निकलेगी जो आजीवन आनन्द के साथ खेत की मेड़ों का कपड़े के तागों का, ज्ते के टाँकों का, पत्थर की नहीं जा भेद-भाव दर करेगी।'

भारतीय संस्कृति और साहित्य में मानवतावाद

मनुष्य मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान के रूप को परिमित नहीं देखना चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि: काम नहीं देती; तब वह कल्पना का आश्रय लेता है। इस प्रकार काव्य की सृष्टि होती है। वाह्य-जगत् मनुष्यों के अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होकर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़ के साथ चेतन का सम्मिलन होता है। जो बुद्धि का अवलंबन करते हैं, उनके लिए सूर्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है, और मंदािकनी एक नदी है। परन्तु कवि-कल्पना के द्वारा सुर्योदय में जवा देवी का दर्शन करते हैं, हिमालय में भगवान शिव का विराट् रूप देखते हैं, और मंदाकिनी में मातृमूर्त्ति देखकर गद्गद् हो जाते हैं। अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक मेकाले की राय है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धिः होतो है त्यों त्यों कवित्व का हास होता है। उनके इस कथन का अभि-प्राय यही है कि ज्यों ज्यों मनुष्यों में प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता है और कुत्रिमता आती है; त्यों-त्यों वे प्रकृति का ससर्ग छोड़ कर संसार में प्रवेश करते जाते हैं, और उनका जीवन रस सूखता जाता है। जीवन के प्रभात-काल में किसको यह जगत् सुन्दर नहीं मालूम होता ? उस समय हम पवन से की हा करते हैं; फूलों से मैत्री रखते हैं; और पृथ्वी की गोद में निश्चित विश्राम करते हैं। एदीयसान सुर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल सौम्य और मधुर रहता है। परन्तु जीवन के मध्याह्न-काल में हमारी दृष्टि में प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। संसार के अनन्त कार्यों में लगकर हम केवल विश्व के विषम संताप का ही अनुभव करते हैं। सब कुछ वही रहते हैं, हमीं दूसरे हो जाते हैं। पहले हम वर्षा-काल में कीचड़ का कुछ भी विचार न कर आकाशः

के नीचे पृथ्वी के वज्ञस्थल पर; विहार करते से। जब जल के छोटे-छोटे छोत कल-कल करते; हँसते, नाचते, थिरकते और वहते जाते थे तब हम भी दन्हीं के साथ खेलते, कृदते और दौड़ते थे। परन्तु सभ्य होने पर हमें वयां में कीचड़ और नांदलेपन का दृश्य दिखाई देता है और हम अपने संसार को नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुल्जीदास के वया-वर्णन में हम यह बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोने दिख्यात कवि हैं। दोनों ने एक विषय का वर्णन किया है। परंतु जहां वाल्मीकि के दर्णन में हम प्रश्वति का यथार्थ रूप देखते हैं; वहां तुल्सीदास के दर्णन में संसार की छटिलता का परिचय पाते हैं। इसका कारण यहीं है कि वार्ल्मीकि ने तनेवन में कविता लिखी थी; और तुल्सीदास ने काशी अथवा अन्य किसी नगर में।

साहित्यज्ञों ने प्रधान लक्ष्णों के अनुसार साहित्य के युग को तीन कालों में तिभक्त किया है; प्राचीन काल, मध्यकाल और नवकाल । प्राचीन काल में दृति याद्य-जगत् को अंतर्जन्त् में मिलाकर एक अभिनव-जगत् की सृष्टि करते हैं, जहार दिवताओं और मनुष्यों का सिम्मलन होता है। उस समय अंतर्जन्त् आर विक्तिन्त् में मेर नहीं रहता। पृथ्वी मध्य-पूर्ण हो जाती है। तब हमें जान लेना चाहिए कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्य-युग में पहुँच गए हैं।

वाल्मीकि, व्यास और होमर के काथ्य अलैकिक हैं। उनकी द्वितयों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वे दिव्य-पाक्ति-सम्पन्न थे। अनएव यदि मनुष्य उनके जीवन में भी अलैकिकता देखे; तो इसमें आरचर्य ही क्या है ! कहा जाता है कि वाल्मीकि पहले अत्यंत करूर और दृशंस थे। भी छे राम का नाम लेकर वह तपस्त्री हो गए। जिसके वाव्य में करूण-रस का अपूर्व जीत बह गया है; उसकी करूता भी देखने योग्य रही होगी। परंतु नच वात नो यह है कि रामायण के पाठ से भिक्त का उन्मेप होता है और उसके पापाण हदय भी इतित हो जाता है: इसी तथ्य को इस किंदरंती में बनलाने भी देश को रई है। वाल्मीकि के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने कोंच पत्ती के द्वय में क्यिन होतर खेतर की रचना की थी। ऐसी धटनाएँ उन्नाधारण होने पर भी अतंभर

नहीं हैं। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये किंवदंतियाँ किंवयों की कृतियों सर्वसाधारण की आलोचनाएँ हैं। किंवता की उत्पत्ति कैसे होती हैं; यह इस ६२ के द्वारा वतलाया गया है। इस मर्च-लोक में जो जीवन और मरण की लीला रही है, मनुष्यों के हारा में भी जो करण वेदना की धानि उठ रही हैं; च्यि संयोग के वाद अत्यंत वियोग की जो दारण निशा आती हैं; उसी से मर्माहत हों किंव के हदय से सहसा उद्गार निकल पड़ता है। वही किंवता है। जिस विविध्य-वेदना का स्वर नहीं; वह किंवता माधुर्य से हीन है।

व्यासदेव ने हिंदू-समाज को धर्म और नीति की शिक्ता दी है। उनके मह भारत में हिंदू-सदाचार की सृष्ट हुई है। इसीलिए उसको पंचम वेद कहते हैं परंतु धर्म और ज्ञान की सृम विवेचना करने वाले व्यास की का जन्म-यतांत ऐ नहीं है कि उसे प्रकट करने के लिए लोग लालायित हों। क्या उनके जीवन यह सिद्ध नहीं होता कि जन्म किसी भी मृतुष्य का मिश्च निश्चित नहीं कर देता अच्छे या बुरे छल में जन्म लेना देव के अधीन हैं, पर पौरुष तो मृतुष्यों के अधीन हैं। होम्र अंधा था। होमर शब्द का अर्थ ही अंधा है। उसी प्रकार हम सूरदास भी अंधे थे। जो जगत के वाह्य रूप की अवहेलना करके अंतर्जग्त की खो करता है; उसके लिए चर्म-चन्चु सर्वथा व्यर्थ है। आँखों से तो हम पृथ्वी को ह देखते हैं पर होमर ने नेत्रहीन होकर पृथ्वी पर स्वर्ग का दर्शन पाया।

रामायण में रामचंद्र और सीता का ही चरित्र प्रधान है। अन्य चरित्रों व अवतारणा इन्हीं दो चरित्रों को विशद् करने के लिए हुई हैं। रामचंद्र पुरुषोत्तम हैं वह लोक-मर्यादा के सरंत्तक हैं, सत्यत्रती हैं, शूर हैं। उनमें देव-दुर्लम गुण हैं परन्तु यदि राम में लिर्फ ये ही गुण रहते, तो कदाचित जाज मनुष्यों के हदय-मंदि में उनका यह स्थान न होता। उनके चरित्र की विद्यालता और भव्यता देखक लोग दिस्मय-त्रिमुग्ध अवस्य हो जाते, पर उन्हें अपनाते नहीं। आज रामचन्द्र व ईरवर का पद प्राप्त है। उनका नाम मात्र स्मरण करके नीच मनुष्य भी भवताम के पार हो जाता है। मनुष्यों की यह भिक्त-भावना उनके अलाकिक चरित्र के कारर नहीं हैं, किंद्र उनके लाकिक चरित्र के कारण हैं। उनकी विद्याल मिन्सा से आतं उत्पन्न हो सकता है, प्रेम की उत्पनि नहीं हो सकती। रामचंद्र ईश्वर थे, पर आये थे वह मनुत्य के ही रूप में, उनमें मनुष्योचित गुए थे। वह पुत्र थे, भूता थे, स्वामी थे, उन्होंने मनुत्यों के मुख-दुःख और आशा-निराशा का अनुभव किया था। जो राजराजेश्वर हें, वे दिर्दों की कुटी का अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु रामचंद्र ने दारिद्रय-त्रत भी धारण किया था। राजिसेंहासन के नीचे उत्तरकर दरिद्रता का आर्तिणन किया था, वलकत-चन्न पहनकर जंगल-जंगल घूमे थे। तकी तो अथमों को उनके पास जाने का साहस होता है। बाल्मीकि जी ने रामचंद्र जी की ईत्यरता पर जोर नहीं दिया है, उन्हें मनुष्य के रूप में लाकर मनुष्यों के लिए उनका चरित्र सुष्म कर दिया है। सीता जी के चरित्र-चित्रण में तो उन्हें यदी सकता मिली है। ऐसा दिव्य-चरित्र किसी अन्य किये ने अंकित नहीं किया है। यही कारण है कि कानों में आज भी ध्वनित हो रहा है। प्राचीन अयोध्या का ध्वंस हो ग्या, किंतु हिंदू-समाज के हदय में अयोध्या आज भी प्रतिष्ठित है। संसार में दिव्यन्ति का सकता के का तक अस्तित्व रहेगा; तब तक उसके हदय से रामायण का प्रभाव वृत्र न हो सकेगा।

येरोप में प्लेटो ने एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना की थी। उन्तें उसने कियों और नाटक्कारों को उच्च स्थान नहीं दिया था। प्लेटो की यह धारणा थी कि कियों का जो वर्णनीय विषय है; उसने केक्ल प्रश्नियों की उोजना ही पहनी है; जिसने मनुत्य का कंपन नष्ट हो जाता है। प्लेटो के मतानुतार वहीं जाति य श्रेष्ट है; जो मृनुत्य को वस्तु-जगत् से आदर्श की ओर आह्नट करे। परंतु यह आदर्श जगत् है कहाँ । सथ-युन में वह आदर्श ऐकिक्नजग्त में नहा, पार्काक्क जन्म में था। पाय-वस्त और सुख-दुःख से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य-जीवन विनी भी हिष्ट में स्तुत्य नहीं था। अत्य तत्कालीन साहित्य का ध्येय पर्श था कि वनुत्य समाज में पार्काक्कि आदर्शों का प्रचार किया जाय। मनुष्यें थी जो प्रवृत्यि एन्हें पार्थव-स्तेह थी ओर खींचती थीं; वे हेय समभी जानी थीं और उनका धंत करने में जीवन की सार्यक्ता थीं। कटोर तपरचर्श और संवम के हारा मनुष्यें दि

स्त्रामानिक प्रवृतियों का दमन किया जा सकता है; परंतु प्रवृत्तियों का नाश होने से मतुष्य स्त्रयं अस्त्रामानिक हो जाता है। मतुष्य ने प्रकृति को मायानिनी कहकर उसका माया-जाल तो इना चाहा; पर उससे उसके ही अंग ज्ञत-तिज्ञत हो गए, समाज उच्छृह्वल हो गया। अलिज्ञत जगत् की कामना में पड़कर जब मनुष्य ने ऐहिक-जगत् की प्रति अपने कर्तव्यों की उपेज्ञा की; तब समाज में सदाचार और मर्यादा की रज्ञा कौन करता ? समाज कियाहीन हो गया, और अकर्मरयता के जितने दुण्परिणाम हो सकते हैं; वे प्रकृट होने लगे। दांते के समय में महात्मा ईसा के निवृत-मार्ग ने समाज की जो दशा कर दी थी, वही दशा मिल्टन के समय में प्युरीटन की शिज्ञाओं का अनुसरण करने से इज्ञलैंड की हुई। भारतवर्ष में संन्यास-धर्म ने भी उसी तरह की अशांति उपन्न कर दी। अब प्रश्न यह था कि मनुत्यों के ऐहिक-जीवन के साथ उनके आध्यात्मिक जीवन का सामंजस्य कैसे किया जाय ?

भारत में मध्यपुग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य के द्वारा हिंदी-साहित्य में उस आन्दोलन का जन्म हुआ जिसके प्रतिपादक कवीर और दादूद्वयाल थे। इस धार्मिक आन्दोलन की विशेषता यह थी कि प्रवृति का ध्वंस न कर के उसकी अभिव्यिक को आध्यात्मिकता की ओर ले जाना चाहिए। त्वभाव की उपेत्ता कर के किसी अवित्य मानवीय आदर्श के अनुसंपान में व्यस्त रहने से उसका विपरीत ही प्रतिकृतित होता है विषय को छोड़कर विषयी को पकड़ने की चेंच्या करना, मनुन्य को छोड़कर मनुज्यत्व के पीछे दौड़ना और इन्द्रिय को छोड़कर रस-प्रहण करने जाना विडम्बना मात्र है। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारत के धर्मीचार्यों ने जिन पारलंकिक वन्धनों से समाज को बाँध रखा था वे शिथिल हो गए। लोग अग्रांति का अनुभव करने लोगे। उनकी प्रवृत्तियाँ जावत हो गईं। उन प्रवृत्तियों को वेन्द्रीभृत करने के लिए कबीर और दावूद्याल की आध्याभिक भावनाएँ असमर्थ थीं। जिस रूप की महत्ता उन्होंने अपने हदय में देखी थी, वह साधारण लोगों के लिए अनुभ्य थी, ओर जिस सौंदर्य का आभास उन्होंने दिया था, उनकी प्राप्ति के लिए व्यावुलता होनी ही चाहिए। अतः यह अवस्था उपस्थित होने पर किवयों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया। तब उनका लत्व्य परमनद्वा के निर्ण ए पर से हटकर

लगुण रूप में केंद्रीभृत हो गया। राम और क्वरण में उन्होंने सींदर्य की पूर्णांदस्या देखी। राम और क्वरण इष्टदेव अवस्य थे, परन्तु उनसे मानद-जीवन का पुनीत सम्बन्ध रथान्ति हो गया। इसके बाद कवियों ने समस्त मानवीय भावनाओं को इष्टदेवें पर आरोदित करना आरम्भ किया। इसका फल यह हुआ कि हिंदी के परदर्ती कवियों ने देवत्व का स्थान मनुष्यत्व को दे डाला। सभी नायक कृष्ण हो गए और सभी नायकाएँ राधा।

बोरोप में मध्ययुग की यह विशेषता दाते के परिस्फुटन-काल में हुई। दांते के प्रसिद्ध महाकाव्य का नाम है — 'डिवाइन-कामेडी'। उसके तीन खंड हैं। पहले खरड में नरक की कथा है। दूतरे में पाप-च्य-मूमि का वर्णन है। तीसरे में स्वर्ण की कथा है। द्रांति में अपने काच्य को कामेडी कहा है। कामेडी शब्द का मूल क्य है--प्रम्य-रीत । दांते का महाकाव्य प्राप्य-भाषा में--इटली की साधारण प्रचलित भाषा में लिखा गया है। यदि हम कामेडी का अर्थ मुखांत काव्य करें, तो भी यह नाम सार्थक होगा; वयोंकि दांते का काव्य सुखांत ही है-पहले अध्याय में नरकः, फिर पाप-भोग एवं पाप-क्वय और अन्त में स्वर्भ का वर्णन । दांते का विश्वास था कि केई मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो; अन्त में उसका उद्घार अवस्य होगा। विश्वता ने मनुष्य के लिए साध्य स्थिए रखे हैं। एक तो इसी जीवन का भाष्य धानन्द्र जिसके लिए मनुष्य अपनी चुमता का प्रयोग करता है और पृथ्वी पर आनन्द-धाम की सृष्टि करता है। दूसरा है कि अनन्त जीवन का अनन्त सुख। यह विना भरवहर्शन के प्राप्य नहीं। भगदार की पूर्ण छुत्रा में ही मनुष्य इस दुर्लभ अवस्था को पा सकता है। इसी तत्त्व की समस्रते के लिए दांते ने अपने महाकाव्य की रचना की। इनि हेराहि-धर्म का अनुवादी था। कर्म के द्वार कर्मकत का मोग होता है: यह उसवा दिखास नहीं था। इसीलिए उराने नरफ का वर्रान विदा। नर्व-वासिदी के पाप का ज्ञान नहीं रहताः इसीलिए उनमें पाचानाप का साव सी उदिन नहीं होता । एस समय उत्परयंत्रण-दायक अदस्था में जीवणमा का अवस्थान एटता है । नरक में जीवान्या वा अहंशार दर नहीं होता। जब उसवा अहंबार नष्ट हो जाता हैं। तब बह पार-क्य-सूमि में प्रविष्ट होता है। इसी का नम है—परगेटरी। यह

प्रायश्चित, पश्चाताय और अनुशोचना का स्थान है। यहाँ जीवारमा का कर्मजन्य मालिन्य दर होता है और तब वह स्वर्गारोहण करता है। इहाँ भगवान का सामीप्य प्राप्तकर वह मुक्त हो जाता है। ईसाई धर्म में सायुज्य और सारूप्य मुक्ति नहीं है। अपने काव्य का नायक स्वयं दांते हैं।

आधुनिक साहित्य में पाश्चात्य आदशों का विशोध प्रचार अवस्य हुआ। उनमें भी मानवतावाद का प्राधान्य है। उसका थथार्थ रूप हम गेटी के रचनाओं में पाते हैं, गेटी को यह इह विश्वास था कि संसार के जितने आदर्श हैं, सभी में सजीवता है। कोई भी आदर्श मृत नहीं हो सकता। गेटी सभी आदर्शों के अन्तर्गत् भाव में प्रवेश कर सकता था। ईसाई-धर्म के तत्त्व को सममकर वह बुद्ध देव की शिचाओं को हदयगत कर लेता था। यति-धर्म की महत्ता जानकर वह सांसारिक वेभव की विशालता देख सकता था। कला पर मुग्ध होकर भी वह विज्ञान की ओर आकृष्ट होता था। यह अपने देश पर पूरा प्रेम रखकर भी जर्मनी को पद-दिलत करने वाले नेपोलियन का विरोधी नहीं था। जिस संसार से हम परिचित हैं; उसी पर उसने काव्य-रचना की है। परन्तु इससे हमें यह न समम लेना चाहिए कि उसकी कृति में यथार्थ-वित्रण (Realism) ही है। उसके वर्णनीय-विषय उसके भावों में ऐसे रंग गये हैं कि उन्होंने विश्वव्यापी रूप धारणा कर लिया है।

गेटी ने अपने जीवन का अन्तिम काल विदेशी साहित्य की समालोचना और 'फास्ट' की रचना में व्यतीत किया। एक विद्वान का कथन है कि फास्ट के दो खंड हैं। उन दोनों भागों की रचना-शेली एक होने पर भी, उनमें विभिन्नता है। पहले खंड में मनुष्य स्वर्गलोक से मर्त्यलोक होकर नरक में प्रवेश करता है; और दूसरे में वह नरक से स्वर्ग को लौटता है। इन्हीं दोनों के बीच फान्ट की उन्मुक्ति है। पहले भाग का आरम्भ धर्म में होता है। फिर अध्यात्म-भाव में परिएत होकर उसका अन्त वर्तव्यनिश्च में हो जाता है। दूसरे भाग में पहले कर्तव्यनिश्च का उदय होता है; फिर सौन्दर्य-बोध आता है; और अन्त में धर्म प्रकट होता है। पहले में ज्ञान और प्रेम का संधर्पण है और दूसरे में कर्म और सौन्दर्य का। इस प्रकार

फास्ट में मानव-जीवन का विकास दिखलाया गया है। फास्ट की रचना हो जाने पर गेटी ने समक्क लिया कि उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया। सन् १८३२ में उसकी चत्तु हो गई।

वर्तमान साहित्य के संशय और विरोध के भाव कितने फेल गए हैं; यह वात हमें टेनीसन की कृति से भली-भाँति स्चित होती है। टेनीसन ने विज्ञान-कथित शिक्ष के कीड़ा-चेत्र; विश्व-जगत् के साथ जगदीश्वर के प्रेम की घोषणा की है। पर यह केवल कथन-मात्र है। यथार्थ वात यही है कि उसमें प्राचीन विश्वास के दुर्ग को नवीन विज्ञान से डा देना चाहा था। टेनीसन के समकालीन बाउनिंग की कृति में वर्तामान युग ने सम्पूर्णता प्राप्त की है। जिस प्रकार दर्शन-शास्त्र में वैचित्र्य और विरोध को एक वृहत् आदर्श में देखने की चेष्टा की गई है; उसी प्रकार बाउनिंग ने ईसाई-धर्म के द्वारा विज्ञान को आध्यात्मिक दृष्टि से वेसा है। उसने काव्य में एक नवीन तत्त्व प्रकट विद्या है। मानव-जीवन में जो विभिन्नता और जुड़ता है, जो पाप और मलीनता है, उसे स्वीकार कर इस कवि ने मतुष्य-जीवन को ईश्वर के आनन्द और प्रेम की अभिव्यक्ति के हप में दिखलाया है। इस प्रकार उसने दुःख, सत्यु आदि आनन्द के विरोधी भावों का अतिक्रमण कर मतुष्य-जीवन में उस प्रेम के प्रत्यज्ञ कराया है, जिससे सव विरोधी भावों का अतिक्रमण कर मतुष्य-जीवन में उस प्रेम के प्रत्यज्ञ कराया है, जिससे सव विरोधी भावों का जितक्रमण कर मतुष्य-जीवन में उस प्रेम के प्रत्यज्ञ कराया है, जिससे सव विरोधी भावों का जितक्रमण कर मतुष्य-जीवन में उस प्रेम के प्रत्यज्ञ कराया है, जिससे सव विरोधी भावों का विराह्म हो जाते हैं।

ब्राटिनंग ने ईसाई-धर्म के ब्रिमृतियाद और पाप-तरव को नहें। नाना । उसने हें जाई-धर्म की असल बात को ग्वीकार किया है, वह यह कि स्वयं ईश्वर मनुष्य का जन्म तेकर मानव-जीवन के रामन्त दुःख और वेदनाओं को स्थीकार करना है। इंश्वर भी एक स्थान में मनुष्य है। वह दूर नहीं है। वह स्वर्ग में के सुख-दुःख और उत्थान-पतन में है। यही बात ब्राटिनंग ने इनाई-धर्म से प्रहर्ण की स्वरम्त मानव-जीवन वो ईश्वर से परिपूर्ण मानवर विकत के धर्म को छोड़कर, प्रहर्ण बरने योग्य दूसरा कीन धर्म है ? जीवन के सुख-दुःख हाति-तान, सबोग-वियोग और आधा-निराधा में इसी वी नीला है। इसी होद से वह आनन्द और प्रेम को पूर्ण करता है। होत में इसी कई तवाद का अनुमव वर ब्राटिनंग ने

उसे प्रकट किया। यही कारण है कि टेनीसन के समान ब्राउनिंग की कृति में वहीं भी संशय का स्वर नहीं है, और न अन्वकार में टटोलना जैसा है। उसमें पूर्ण मानव-जीवन है। वह चाहे जैसा हो; पर है आनन्द से उज्जवल। इसलिए विज्ञान के सब तत्त्वों को स्वीकार कर ब्राउनिंग कभी उद्विग्न नहीं हुआ। वह अनुभव करता था कि चाहे हम कितने ही भिन्न क्यों न हों; और कितनी ही भिन्न अवस्थाओं में क्यों न रहें; सब एक ही है; और वह एकता प्रेम ही की है। जो वैचित्र्य हैं। वह प्रेम के लिए ही। कहना न होगा कि ब्राउनिंग का यह तत्त्व हमारा वैष्णव तत्त्व ही है।

आधुनिक कवियों में रवीन्द्रनाथ की कृति में भी यही वैध्याव तत्त्व पाया जाता है। स्वर्ग के सुख-दुःख और पाप-पुग्य से हीन आनन्द की अपेक्षा पृथ्वी का यह सुख-दुःख-पूर्ण जीवन ही उन्हें इष्ट है। यह वात उन्होंने अनेक स्थानों में प्रवट की है। रवीन्द्रनाथ और ब्राउनिंग की रचनाओं में वितने ही स्थानों में, विभिन्नता रहने पर भी, आधुनिक युग के आदर्श को दोनों ने सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित विद्या है। तात्त्विक दृष्टि से इनमें आश्चर्यजनक साहस्य है।

यह साहरय मानव-सभ्यता की एकता स्चित करता है। 'रवीन्द्रनाथ के 'स्वर्ग से विदा' नामक काव्य से ब्राउनिंग के 'रैफन' की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वर्ग से विदा' की कथा यह है कि एक व्यक्ति स्वर्ग में संकड़ों वर्षों तक आनन्द से रहा। जब उसका पुरुय ज्ञीया हुआ; तब उसे पृथ्वी पर फिर लेंडिना पड़ा। स्वर्ग से विदा होते समय उसे बड़ी वेदना हुई। उसे यह आशा न थी कि वह स्वर्ग में भी अश्रु-रेखा देखेंगा। स्वर्ग में केवल आनन्द है। वहाँ दुःख कहाँ ? तब वह कल्पना करने लगा कि यदि स्वर्ग पर दुःख की छाया पड़ जाय, तो उसका सौंदर्य कितना परिवर्तित हो जाएगा? स्वर्ग की निर्मल ज्योति में मलीनता आ जाएगी। वायु से मर्मर-ध्विन उठने लगेगी। नदी से कहण-स्वर उत्थित होगा। उज्ज्वल दिन के बाद संध्या की म्रियमाण लालिमा प्रवट होगी। नज्यों की निस्तब्धता में वैराग्य का संगीत सुनाई पड़ेगा। किन्तु स्वर्ग में यह होने का नहीं।

यह वेपरीत्य पृथ्वी पर ही हैं। आनन्द को दुःख के साथ मिला देने से पृथ्वी के लोंदर्य में एक दूसरा ही लावराय आ गया है। अप्सरा के प्रेम में न वेदना है; न अनुप्ति। मिलन की आकांका और विच्छेद का दुःख भी नहीं है। परम्तु मत्येलोक में मिलन और िच्छेद के द्वारा प्रेम पूर्ण हो गया है। वितने ही भावों से उस प्रेम की उपलब्धि होती है। वन्याव मानते हैं कि वात्सल्य, दास्य, संख्य, माधुर्य आदि भावों से भगवान मनुष्यों के भीतर अपनी लीला प्रवट करते हैं। कभी वह पुत्र हैं, और हम सत्वा। कभी वह स्वामी हैं और हम उनके दास-दासी; कभी वह प्रेमी हैं; और हम उनके प्राय-माधुर्य में अपना सर्वस्व देवर इतार्थ होने वाले। माता के पुत्र-वात्सस्य में वितनी करणा है। स्वर्ग में ऐसा चित्र देखने को कहाँ मिलता है।

ब्राउनिंग के 'रेफन' की भी यही कथा है। स्वर्ग लोक से एक मनुष्य पृथ्वी पर आकर दूसरे मनुष्यों को स्वरं की कथा सुना रहा है। वह वहता है; वहां न तो अभाव है; न बृद्धि। वहाँ कोई परिवर्तन नहीं होता। न आरम्भ है; न अन्त। भले-बुरे की वहाँ तुलना नहीं हो सकती। सब सुखी हैं। दुःखी कोई नहीं है। सब सम्पूर्ण है। ऐसी सम्पूर्णता में रहने से कुछ समय के बाद न जाने कमें मुक्ते उससे पीड़ा होने लगी। मेरे मन में आशा-निराशा, प्रेम-घृणा आदि इन्ह भाव जाइन हुए। में मर्त्य-लोक के जीदन के लिए व्यादुल हुआ। सबको एक ही रूप में देखने की इच्छा मेरी न रही। में भिन्नता देखने के लिए व्यादुल हुआ। जब सबके भीतर सम्पूर्णता का अभाव रहना है, जब पूर्ण असीमता थी शोभा वभी उसी और कभी नीची होकर आगे बढ़नी है, तब वैचित्रय के भीतर ऐक्य प्राप्त करने वे लिए हदय में आघात होता है। तजी तो आनन्द होता है। मनुष्यों तुन्हें आगंता और स्था दें. वेदना और नृष्यु है। वही तुम्हारा जीवन है। किन्तु इससे क्या ९ क्या-क्या जीवन का उद्देश्य दृष्ट-पथ से अन्तिहित हो जाता है ९ जब मेरे हृदय में इस प्रकार के विचार उठने लगे, तब मुक्तसे एक ने बहा—''रेफन, यहां अब नुम्हारे लिए स्थान नहीं है। तुम्हारे लिए सब पृथ्वी है।'

सभी त्रिपरीत भात्र प्रेम के द्वारा एक हो सकते हैं। प्रेम के लिए ही यह किरितय है। प्रथ्नी के सभी निरोधी भावों को प्रेम की इस एकता से देखना, वर्ता मान-युग की साधना का ल य है। व्यक्त-अव्यक्त, पूर्ण-अपूर्ण, ससीम-असीम, सब एक दूसरे से संबद्ध हैं। यही आधुनिक शास्त्र प्रमाणित करना चाहता है। वर्त्त मान युग का यही एक त्रिरोष आदर्श है, जो साहित्य में व्यक्त हो रहा है।

योरोप के साथ मिलने के पहले भारतार्थ अतीतकाल में ही रहा करता था। अतीत में ही वह भिक्ष्य का सुख-स्थल देखा करता था। परन्तु योरोप ने उसका सुख-स्थल भंग कर उसे अतीत से वर्ष मान में ला दिया। उस समय वह हृत-सर्वस्व मनुष्य के समान किंक्चियिक्सूड़ हो गया। र्यीन्द्र बावू ने उसका अतीत धन खोज कर उसे समर्पण कर दिया है और उसे इस योग्य बना दिया है कि वह वर्ष मान संसार में विचरण कर सके।

यदि हम रवीन्द्र की सर्वानुभूति पर दृष्टि रक्खें तो हम उनके जीवन और काव्य के रहस्य का उद्घाटन कर सकें। विश्व को मानव-जीवन को सभी और से उपजच्य करने की व्याकुलता ने ही रवीन्द्र के कवित्व को उत्साहित किया है। हम अपने जीवन द्वारा जिस जीवन को सम्पूर्ण रूप से नहीं पाते, दूर होने से जिसका परिचय मात्र पाते हैं, वह अन्तःकरण के तीव्र औत्सुक्य के प्रकाश में देदीण्यमान हो उठता है। कि की व्याकुल कल्पना की रिश्मद्रटा से प्रदीप्त जग्त के हश्य को ही हम उनकी रचना में देखते हैं। विश्व-थोग के अभाव से कि में विश्व-थोध का भाव इतना तीत्र हो गया है कि वही उनके कित्व-स्रोत में पूट पड़ा है। अभीतक हम सुप्त थे। पर एक दिन हमारी चिर काल की निद्रा मंग हुई, हम जाग पड़े। तब हमने अपने शयन-एह की खिड़की से देखा कि जीवन की विस्तीर्ण लीलाभूमि में मनुष्य सभी दिशाओं में अपनी विचित्र शिक्त को आनन्द में परिकीर्ण कर रहा है। तब विश्व-चेत्र में सिम्मिलित होने के लिए हमारे प्राण व्याकुल हो गये। इस प्रकार अन्तःकरण में विश्व के लिए विरह-वेदना जाएत हो उठने पर हम अभिसारिक होक्त वाहर जाना चाहते हैं, पर पथ पहचानते नहीं, इसलिए भिन्न-भिन्न पथों में भटकते फिरते हैं।

इसी प्रकार भटकते-भटकते अन्त में हम जान लेते हैं कि हमारा ही पथ राज-पथ है। हम व्यर्थ दूसरे पथों के गोरखधन्धा में पड़े घूम रहे हैं। वस यही वात, यही विश्व की अभिसार-यात्रा हम रवीन्द्रनाथ के काव्य में देखते हैं। और यही अनुभूति का आवेग हम उनके जीवन में पाते हैं। जीवन की भिन्न-भिन्न प्रश्नियों में से होकर उन्होंने विश्व की पा लिया और तब वही एक तान उनकी ह्यांत्री पर वजन लगी। उन्होंने सीमा में असीम का दर्शन कर लिया और अन्धकार में अनन्त-ज्योति भी इन्वि देख ली।

रवीन्द्रनाथ के जीवन के सम्बन्ध में हमें यह बात सदेव स्मरण रखनी चाहिए कि उन्होंने अपने स्वभाव के अन्तर्हित पथ का ही अवलम्बन किया है। उनके इसी स्वभाव में उनकी किन-प्रकृति, तपस्वी-प्रकृति, भोगी-प्रकृति और त्यागी-प्रकृति ने विकास पाया है। किसी प्रवृत्ति के प्रवल होने पर जब प्रकृति एक ही और खिचती है तब उसके विरुद्ध भीतर से एक धवका लगता है जो स्वभाव को दूसरी और वर देता है। इस तरह नदी के समान उनके जीवन-स्रोत की गति देदी हो रही है और एक स्थान से दूसरे स्थान और एक रस से दूसरे रस में बहता हुआ अन्त ने वह धर्म में जाकर एकरपता प्राप्त कर लेता है। वहां सभी प्रवृत्तियों का निरोध माय हट जाता है और उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इस प्रकार रविण्डनाथ ने अपने भीतर ही भारतवर्ष के चिरन्तन समन्वयादश का अनुभव कर लिया।

योरोप ने छन्हें नोबेल-पुरस्कार से सम्मानित किया और भारत के मन्देश की श्रेटता को स्वीकार कर लिया। पाश्चात्य जगत में जिस क्ल का अभाव था, जिसके न रहने से सहिद्धांजी होने पर भी थोरोप दा अन्तःकरण कर्जर हो उठा था, उसी अभाव को दूर करने दा छपाय रजीन्द्रनाथ ने वनला दिया। पाश्चात्य जगत ने रबीन्द्रनाथ के काव्यों में भारतीय आत्मा वा प्रयन्न दर्शन कर लिया। एक ईसाई विद्वान ने वहा था—आपकी कविता का पाठ कर हम इस संसार को दूसरे ही भाव से देनने लगे हैं, पहले हमने कभी संसार का ऐसा दर्शन नहीं किया था जैसा आज कर रहे हैं। एक दूसरे विद्वान हालेगड साहव ने कहा था—पाश्चात्य देश अभी तक

भारतवर्ष की अवज्ञा कर रहा था, यह पुरस्कार उसी पाप का प्रायक्षित है। कुछः लोगों का कथन है कि पूर्व और पश्चिम का कभी मिलन नहीं होगा। आपके द्वारा वह मिलन हो गया। यह मिलन किसी विशेष साम्प्रदाय के देव-मन्दिर में नहीं. हुआ है, यह वहाँ हुआ है जहाँ ज्योतिर्मय परमात्मा का नित्य प्रकाश है। आध्यामिक राज्य में पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ है।

विश्व के इतिहास से भारत

संसार का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जाता है-प्राचीन काल. मध्ययुग और नवोत्थित-काल । पृवेतिहासिक काल में मानव-जाति की केंसी अक्त्या थी, यह पुरातत्त्व का विषय है। जब इस ऐतिहासिक काल का निरीच्या करते हैं तब इस सभ्यता का भव्य रूप ही देखते हैं। प्राचीनकाल में भारत, चीन, मिस्न, प्रीस और रोम उन्नतावस्था में थे। प्राचीन काल में को जातियाँ असम्य समभी जानी थीं, उनका प्रावत्य मध्ययुग में हुआ । इस युग में मुसलमानों की विशेष धी-बृद्धि हुई । जनका पतन होने पर आधुनिक येरोप का आधिपत्य बढ़ा । इन तीनों युगों में तीन विभिन्न भावों की प्रधानता रही। प्राचीन युग में व्यक्तित्व की प्रधानता थी। मध्ययुग में धर्म ने राजनीति को आकालत कर लिया। वर्त्तमान वाल में व्यवसाय और राजनीति का घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति, मध्ययुग में समाज और वर्तमान युग में राष्ट्र प्रवन्त हुए, पर हमें सद्व ध्यान में रखना चाहिए कि सभी काल में भिन्न-भिन्न आदर्शों में एक प्रकार का संघर्ष होता रहता है। आदशों के इस पारत्परिक संघर्ष से समाज का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। प्राचीन दुग में व्यक्ति और नमाज का जो संदर्प था, वह मध्यपुर में भी विद्यमान् रहा । इसी प्रकार वर्त मान पुरा में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और समाज दा संदर्भ तृप्त नहीं हुआ । अर्मीतर सनी देशीं में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र से संधर्प हो रहा है।

प्राचीन युग में भारत, रोम सभ्यता के केन्द्र थे। सभी सभ्यताओं में महुन्यों का कोई न कोई आदर्श पाया जाता है। उसी आदर्श पर उसका सामाजिक और राजनैतिक जीवन का संगठन होता है। भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति की आसा वी सम्पूर्णता ही जीवन का एक मात्र लच्च था। इस आदर्श पर समाज का दिनाग भी क्या गया जिससे विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति की सम्पूर्णता के लिए भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ निश्चित कर दी गईं। भारतवासियों ने व्यक्ति को प्रधानता देकर उस पर राष्ट्र और समाज का अधिकार कम कर दिया। राष्ट्र अथवा समाज व्यक्ति का प्रति-चन्धक नहीं था, किन्तु उसके इष्ट साधन में सहायक था। राष्ट्र-नियन्ता नहीं था, वह देश-रक्ता का उपाय मात्र था। श्रम-विभाग के अनुसार राजा के हाथ में देश-रक्ता का सार सौंपा ग्या। परन्तु राजा पर समाज अवलिम्बत नहीं था। समाज की जीवन-शक्ति राजसभा में नहीं थी, किन्तु व्यक्ति-समृह में थी। यही कारण हैं कि हिन्दू-साम्राज्य का विध्वंस हो जाने पर भी हिन्दू-समाज छिन्न-भिन्न नहीं हुआ और न उसकी चिरकालार्जित आदर्श-सम्पत्ति ही नष्ट हुई। प्राचीन भारत का बभव उसकी पार्थिव ज्ञमता में नहीं था, यद्यपि उसकी यह क्तमता भी खूब वदी-चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरत्र आज तक अजुग्गा है और यह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिए आत्मा ही इप्रव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य था। उसने दूसरे वेशों में राजनेतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेप्टा कभी नहीं की। यही नहीं, किन्तु उसने दूसरें को भी अपने इहत् समाज में मिला लिया।

भारतीय आदर्श का अन्तिम परिगाम यह हुआ कि देश की राजनंतिक शक्तिः राजा में केन्द्रीभूत हो गई और प्रजा भक्ति के आयेरा में राजनंतिक सत्ता से उदासीन हो गई। हिन्द्-राजाओं में स्वेच्छावारिता का अभाव अवश्य था। इसका कारणा यह नहीं कि राजा समाज से पृथक नहीं था, वह उसका अंग था, और इसलिए वह लोक-मयोदा के विकद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने राजनीति के केन्द्र के बाहर आकर समाज पर आघात वाम विया तभी उसका दिरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजा-विद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरणा नहीं है जिसमें प्रजा ने राजा की राजनेतिक सत्ता को भए करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासन-काल में भी हिन्दू-प्रजा अपनी अवस्था से सन्तुए थी। वर्त्त मान युग में जो अशान्ति फेली है उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्त्तिक हो गया है और वर्त्त मान युग के लिए अभी तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ है। जो इस विश्व व्यानी अशान्ति को दूर न कर सके।

त्रीत में राष्ट्रीय कर्म ज्ञेत्र में ही समाज की प्रकृत जीवन-शिक्त थी। कहा गया है कि त्रीस की सभ्यता का जन्म नगरों में हुआ था। अत्यव त्रीस का प्रत्येक नगर एक राष्ट्र हो गया था और इसी को एष्ट्र करना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लाय था। श्रीस में राष्ट्र में प्रथक व्यक्तिगत स्वतंत्र जीवन नहीं था। आधुनिक येरोप में असी तक इसी आदंश का किसी न किसी रूप में अनुसरण किया जाता है। इसी आदंश का किसी न किसी रूप में अनुसरण किया जाता है। इसी आदंश के व्यक्ति और राष्ट्र में विशेष उत्पन्न विद्या। व्या भी उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि सभी लोग एक ही उद्देश्य में उसके लिए प्रयान करें। परन्तु उसके लिए व्यक्ति भी आधिमक विकास की विल्वान नहीं किया जा सकता। ग्रीस की अवनित का प्रधान कारण था उसकी नितंब और आधिमक उन्नति श्री अस-पूर्णता। त्रीस की आध्यास्मिक उन्नति उसकी पार्थिव उन्नति की अपेन्न ही नहीं रही। इसलिए जब व्यक्ति से राष्ट्र का सम्बन्ध घटने लगा तब श्रीस के जातीय जीवन में शिथिलता आने लगी और अन्त में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के विकास ने श्रीस भी सभ्यता का भी लोग हो गया।

रेम ने शिल के नागरिक राज्यों को नष्ट कर एक विद्याल साम्राज्य का निर्मास किया। रोम की राजनितिक सत्ता में जन-समृह बा प्रभाव था। तो भी दहा व्यक्ति-विद्येप की प्रभुता अञ्चरण रही। जब रेम ने संसार के अध्यक्षका भाग को स्वायन कर लिया तर उसका पाथिल वेभव खुब वह गया। इस वेभव पर रोम के जन-समृह था भी अधिकार हो गया। समाज के जुड़ांदा में जब सार्गन केजीभृत हो जाती है तब उसका वितना विष्मय पता होता है, बह रेम के इति एन ने सिद्ध है। रोम के सर्ववाधिका अपनी आधिक उन्नति और उमता के बारण महेन्मन हो गये थे। उनकी प्रशंत-प्रवृत्ति और दुगन्यर वा वर्णन व कर प्रणा होने तक्षकी है। यह सन्य है कि रोम ने प्रजारक्ताध्मय राज्य को जन्म दिया। उनके दिया और दिवान की भी उद्योग वी। प्रभन्न उपनी जनक ने उनके दिया और दिवान की भी उद्योग वी। प्रभन्न उपनी जनक ने उनके प्रिणा अववाय प्रमा की। इसिंह धर्म में सोलारिक वेभव का निरस्कार किया गया है और जनवा के है स्थान में प्रेम और सहनद्दिलता का आदर है। इसी धर्म ने येसेप की नभाना

न्का नवीन रूप दिखलाया। तब राजनीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थादित हुआ। यही मध्ययुग का प्रारंभकाल है। शासक और शासित-वर्ग, राजा और प्रजा, दोनों के लिए समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि लोक-मर्यादा का संरच्चक समभा जाता था। योरोप इसे पृथ्यी पर भगवान का प्रतिनिधि सममता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी और पोप उसका प्रतिनिधि था। योरोप में जो स्थान पोप का था मुसलमान-साम्राज्य में वही स्थान खलीका को दिया गया था। पर खलीका मुसलमानों की राजनीति और धर्म दोनों का परिचालक था।

मध्ययुग में मुसलमानों की खूब श्री-इिंह हुई। सातवीं शताब्दी में मुहः मद ने अपना मत चलाया। जिन जातियों में पहले संगठन के अधाव से शिक्क नहीं थी, उन्हें धर्म के सूत्र में बाँध कर मुहम्मद ने संसार की अर्वश्रेष्ठ जाति में परिगत कर दिया। मध्ययुग में मुसलमानों ने ही सर्वत्र विद्या और विज्ञान का प्रचार किया।

मुसलमानों की उन्नित का सबसे बन्ना कारण यह है कि उन्होंने धर्म की राज-नीति से पृथक नहीं किया। बगदाद का जलीका मुसलमान-साम्राज्य का अधिवित था और वही उनके धर्म का आचार्य था। धार्मिक मुसलमान राजनंतिक शिक्त की कामना से युद्ध नहीं करता था, किन्तु वह सत्य के प्रचार के लिए अपना बितदान करता था। मध्ययुग की किसी दूसरी जाति में धार्मिक भावों की यह प्रवत्तता नहीं थी। यह सच है कि मुसलमानों के साथ जब ईसा-धर्मावर्लाम्बयों का युद्ध आ तब पोप की प्रार्थना पर सभी ईसाई-सम्राट सिमिलित हुए। परन्तु सब सम्राटों का एक लद्म कभी नहीं हुआ। आत्मरत्त्रा के लिए अपने समाज-शत्रु के विरुद्ध छुछ लोग छुछ समय के लिए एकता स्थापित वर सकते हैं, पर ऐसी एकता चिरस्थायी नहीं हो सकती। ईसाई-सम्राटों को धर्म-रत्त्रा से अधिक अपने देश की रत्त्रा का ध्यान था। वे जानते थे कि ईसाई-मत की उन्नित से उनके देश की उन्नित नहीं होगी और न उसकी अवनित से उनके देश का पतन ही होगा। पोप का धार्मिक प्रभुत्व नष्ट हो जाने पर फांस और इंगलैंड अतःपतित नहीं हुए। परन्तु मुसलमानों का दूसरा लद्म था। खलीका की उन्नित से उनकी उन्नित थी और उसकी अवनित से उनका पतन था। जब संसार में व्यक्ति और समाज का संवर्ष था तब मुसलमानों में यह प्रश्न उठा ही नहीं। यही उनकी उन्नित का प्रधान कारण था और यही उनके पतन का मुख्य कारण हुआ। मुसलमानों का यह धार्मिक भाव एक जुद्र सीमा में ही प्रवल हो सकता है। जल में पथर फेंकने से जो लहर उठती है, वह बढ़ती जाती है। पर ज्यों-ज्यों वह बढ़ती त्यों-त्यों उसकी शिक्त जीण होती जाती है। यही हाल मुसलमानों की धर्म-शिक्त का था। जब उनका प्रसार खूब हो ग्या तब उनकी यह शिक्त बिलकुल जीण हो गई।

[२]

संसार के इतिहास में ऐसी कोई भी जाति नहीं है जिसने अपनी शक्ति को सर्देव अनुएए। रक्खा हो। उत्थान के बाद सभी का पतन हुआ है। कभी किसी जाति ने अवनित । परन्तु उन्नित की बरम सीमा तक पहुँचकर अन्त में सभी का अधःपतन हुआ है। प्राचीन मिन्न का गौरव अब उसके ध्वंसावरोषों में है। अभी भारत की ऊर्जितावस्था थी। अब भारतीय आर्य-जाति की गौरव-कथा उसके प्राचीन साहित्य में ही विद्यमान है। प्राचीन ग्रीस की विश्व-विजयिनी शिक्त नष्ट हो गई। रोक का सम्राज्य अतीत काल की कथा मात्र है। मुसलमानों की प्रचएड शिक्त के आगे संसार नत हो चुका है। अब उसे ही अपने अस्तित्व की रज्ञा की चिन्ता है। आजकल योरोपीय जातियों का प्राधान्य है। परन्तु यह नहीं बहा जा सकता कि उनका अभ्युद्ध विरस्थायी है। कितने ही पास्चात्य विद्वानों ने आधुनिक योरोपीय सभ्यता की समीचा कर उसके भिवन्य के विषय में अर्जा आहां प्रवट की है। विचारणीय यह है कि विस्ती जाति के उत्थान और एतन के कारण क्या है।

प्राचीन काल में कितनी ऐसी जातिया थीं जिनका अब अस्तिस्य तक नहीं है। इस के स्थान-पतन के इतिहास में हम कार्य-कारण का बुल दिलकण ही सम्बन्ध पाते हैं। हम यह देखते हैं कि कार्य का उद्देश्य बुळ था और उसका परिलाम कुछ दूसरा ही हुआ। धर्म की उज्ञति के लिए तो आन्दोलन हुआ, पर उसका पत हआ एक प्रवत जाति की सृष्टि। जाति उठी तो दूसरों को सापथ दिखाने के लिए, बिलु इस्यं विश्वगामिनी हो गई। वह अपना उद्देश्य मृत्त गई और स्वयं अपने नग्य का

कारता हो गई। जाति की उन्नतावस्था में उसके पराभव के कारता उत्पन्न और जाति को दुरवस्था में उसकी उन्नति के साधन वस्तुत हुए।

देश की प्राकृतिक स्थिति और जलवायु की कारण जाति में कुछ ऐसी विशेषता क्षा जाती है जो अन्य देशों की रहने वाली जातियों में नहीं पायी जाती। जो लोग समभूमि में रहते हैं, उनकी अपेचा पार्वत्य देश के निवासी अधिक कप्ट-सिहण्ण होंगे। इसी प्रकार जो लोग सजला-सफला भूमि में कम परिश्रम से अपने जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लेते हैं, उनकी शारीरिक शक्ति उन जातियों की अपे जा कम होगी न्तो मरुभूमि में रहकर कठिन परिश्रम से अपने जीवन का निर्वाह कर लेते हैं। इसके सिवा सजला-सफलां भूमि में भिन्न-भिन्न जातियों को संघर्ष अवश्य होता रहेगा, क्योंकि सभी मनुष्य वसे ही देश पाने की कामना करेंगे जहाँ अनायास उनका जीवन-निर्वाह हो जाय। अतएव समभूमि और शस्य-सम्पन्न देश के निवासियों के लिए जाति सिमाश्रम के कारम जीवन में अधिक जिल्ला रहेगी। इस जिल्ला का प्रभाव जाति के असन-वसन, आमोद-प्रमोद तथा जीवन के साधारण कृत्यों पर भी पड़ता है। जब जीवन में सरलता रहती है तब मोटा पहनना और मोटा खाना यथेए रहता है। परन्तु यह जीवन की जटिलता में संभव नहीं रहता। आमोद-प्रमोद के कितने ही उपकरण उस समाज के लिए आवश्यक हो जाते हैं जहाँ संदर्भ अधिक है। मानसिक शक्ति पर भी इसका प्रभाव देखा जाता है। जो जाति अपने जीवन के लिए अपनी शारीरिक शान्ति पर अवलिम्बत है, उसे जड़-पदार्थ ही अधिक सारवान प्रतीत होंगे। अत्रव जो सभ्यता वह निर्मात करेगी वह जड़ानुगत होगी। जिन जीवन में सुख-स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास की गृद्धि होती है उन्हीं की पृष्टि उसमें होगी। इन्द्रिय की परितृति तथा जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की योजना में ही उसकी सभ्यता के आदर्श निर्मित होंगे। इसके विपरीत जो जाति अनायास ही जीवन का निर्वाह कर लेती है वह शारीरिक सुखों भी अपेद्धा मानसिक सुखों की प्राप्ति के लिए अधिक चेष्टा करेगी। अतएव उसकी सभ्यता आध्यात्मिक होगी। इसी आध्यात्मिक सभ्यता के कार्या कभी-कभी जाति संसार की इतनी उपेक्ता करने लगती है कि वह अकर्मण्य हो जाती है। इसी अवर्मण्यता का

फल प्तन है। जब भिन्न-भिन्न जातियों का संवर्ष होता है तब एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इससे वे एक दूसरे से वितनी ही बातें ब्रह्म कर लेती हैं। इनसे भी जाति की गति उन्नति अथवा अवनति की ओर अब्रसर होती है।

जातियों के पतन का कारण बतलाते हुए बिहानों ने बिलाविता-इद्धि हारा जातीय चिरित्र-हानि, अज्ञान की बृद्धि, वैराग्य और अकर्मरण्यता आदि कारणों का उल्लेख किया है। ये सब बृशिज्ञा के प्रभाव कहे जा सकते हैं। एक और कारण है जिसे हम प्राकृतिक निर्दाचन का अभाव कहेंगे। यही जाति की अन्तःस्थित व्याधि का चौतक है। इसकी व्याख्या एक विहान ने इस प्रकार की है—

जातीय उन्नित या अवनित ना मतला है जाति के व्यक्ति-वर्ग भी उन्नित वा अवनित । व्यक्ति-वर्ग का अच्छा या बुग होना दो यातों पर निर्मर ह । पहली वानं पह कि उसके जन्म सिद्ध-संस्कार कैसे हैं । ओर दूसरी बात यह है कि उमे शिन्ना कैसे मिली हैं । जब कोई जन्म लेकर आता हे तब वह अपने शारीर के लाथ कुछ संस्कार भी लेता जाता है । यह सभी जानते हैं कि मिन्न-निच बालकों में शिक्त की समानता नहीं रहती । विसी में बोई शिक्त अविक है तो विशो में बोई ग़क्ति । शिक्त की तरह स्वभाव में भी भिन्नता रहती है । कोई मानव ने द्यान होता है तो कोई स्वभाव से निगर । विसी की दुद्धि तीस्सा होती ह तो किसी भी मन्द । वहां जाता है कि गदहां ठोक-पीट कर घोड़ा नहीं बनाया जा सकता । इन कथन ने नव्यता ह । तो भी यह मानना पड़ेगा कि शिक्ता का भी बड़ा प्रामव तेना है ।

यही शिला से मतलर उन वाते से ह निग्हें मनुत्य अपने पार्यंतर्ती सहचर-इर्ग से सीखता है। बालकों को अपनी सहदासियों से जो शिला मिन्तर्ता है वह उनके चिरिन्न-निर्माण में दहा काम करती है। जो बालक स्वनाव से द्यानु होता है वह भी निर्द्यों की संगति में पहकर करू हो जाता है। इसी प्रकार कितनी ती गा दृद्धि वा बालक क्यों न हो, यदि उसे शिला विल्लान न दी जाय तो वह मुखं हो जायता। जो बालक विलास की गोद में पत्ते हैं वे विलास-प्रिय अवस्य होंगे। इसी तरह जिल्हें द्यारिद्रय का अनुभव करना पड़ा है वे परिश्रमी और वष्टमहिन्त्यु होंगे। मनत्तर वह है वि चरिन्न-निर्माण के लिए जिस प्रकार स्वानादिक होने आवस्यक है उसी प्रकार उन

स्वामाविक वृत्तियों के विकास के लिए शिक्ता की भी आवश्यकता है। एक के अभाव से दूसरे का विकास असंभव है। गणित के उदाहरण से यह विलक्ष्ट स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिए स्वामाविक वृत्ति 'क' है, शिक्ता 'ख' और मनुज्य या व्यक्तित्व 'ग'। फल यह होगा कि क× ख = ग। अब चाहे 'क' कितना ही कम क्यों न हो, यदि 'ख' अधिक है तो उसका गुणनफल 'ग' कम नहीं होगा। परन्तु यदि 'क' (०) शून्य है तो 'ख' कितना ही अधिक वयों न हो उसका गुणनफल शून्य ही रहेगा। इसी प्रकार यदि 'ख' शून्य होगा तो 'क' के बड़ा रहने पर भी गुणनफल शून्य ही होगा। मतलव यह कि यदि किसी जाति की हीनावस्था है तो उसका कारण जानने के लिए हम देखेंगे कि उस जाति के व्यक्तिवर्ग की स्वामाविक वृत्तियों का हास हुआ है अथवा उनके विकास के लिए उचित अवस्था का अभाव हुआ है।

मनुष्यों की कितनी ही मानसिक वृत्तियाँ जैसे चिन्ताशक्ति, दया, साहस या स्त्रार्थपरता, निष्टुरता, त्रिवय-लिप्सा वंरा-परंपरा से चली आती है। शारीरिक आकार तथा वर्ण की तरह हम उन्हें भी अपने माना-पिता से पाते हैं। कहना नहीं होगा कि योग्य माता-पिता की संतान में योग्यता प्रदर्शित होगी। प्राकृतिक निर्वाचन का फल यह है कि निम्नावरथा से भी जाति उन्नतावस्था को पहुँच जाती है। इसी प्राकृतिक निर्वाचन के कारण निर्वल आप से आप नष्ट हो जाते हैं और सवल ही जीवित रहते हैं और उन्हीं से वंश की रचा होती है। इसी से समाज में योग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है और पारिपार्श्विक अवस्था से संप्राम करते-करते समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जाता है। साम्यावस्था में प्राकृतिक निर्वाचन का हास होने लगता है। सभ्य समाज में निर्वल और रूण व्यक्तियों की भी रत्ता होती है। निर्वुद्धियों को भी आश्रय मिलता है। धन, मान आदि कृत्रिम भेदों की सृष्टि होने से प्राफृतिक निर्वाचन का द्वार ही वन्द हो जाता है। रुग्ण, निर्वोध, पापारमा न्यक्ति भी धनी या उच्च पदस्थ होने के कारण अपने वंश की वृद्धि करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की वंश-वृद्धि से सभ्य समाज में अयोग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है। फल यह होता है कि प्राकृतिक निर्वाचन के अभाव में जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का हास होता जाता है। इससे न तो उन्नति के

अतुकूल स्थानाविक वृति का अविभोत्र होता है और न उनके विकास के किंत् अवित अवस्था ही हो सकती है। अत्यव जाति का पतन अविवार्य है। जाति में वर्णसंकरत का दोष आ जाने से वह पतन शीघ्र हो जाता है।

उपयुंक्त विवेचन से यह स्रष्ट हो जाता है कि जाति के उन्थान और पतन सब से बड़ा कार्या भिन्न-भिन्न जातियों का पारस्परिक संघर्ष हैता है तब उसक फल यही होता है कि जो जाति सवल होती है वह दूसरी निर्वल जाति को द्या देते है। यदि यही संघर्ष दो समान-वल जानियों में हुआ तो दीर्घकाल-व्यापी यु अवश्यम्भावी है। जातीय उन्नांत पर दुढ़ का बढ़ा ही घातक परिगाम होना है युद्ध में प्रायः वही लोग सिमलित होते हैं जो शक्ति-तम्पन्न हैं। परिणाम य होता है कि जाति के शक्तिशाली बीरों का तो संहार दुद में हो जाता है और जारि की वंश-रज़ा का भार निर्वल और अयोग्य व्यक्तियों पर पड़ता है जो जीविन रहते हैं। उनकी सन्तानों में शक्ति हीनता बढ़ती जाती है और अन्त में जानि सर्वय शक्तिहीन हो जाती है। दीर्घकाल व्यापी दुढ का यही कारण है। श्रीन और रीव के जातीय अधः पतन के भी वहीं कारण हैं। वेरी नामक एक विद्वान, ने लिखा है वि रोम में युद्धों के बाद रोमनों की संख्य अत्यन्त कम हो गई थी। संख्या-रुद्धि हुं दासों की, जो युद्ध में सम्मिलित नहीं होते थे। यह संख्या इननी कम हो गई थी वि सम्राट् आंत्स्टस वे जन-संख्या की वृद्धि के लिए धन देना आरम्भ किया था। स तो यह है कि श्रील, रोम, कार्थेज, मिख, अरब आदि सभी वैशों का पतन तमी कार्र से हुआ। शक्तिशाली व्यक्तिं का च्चा और निरुष्ट श्रेगी के व्यक्तिये की प्रधानत होने से जाति में दुर्शलता बढ़ती जायगी और उसका ५तन अवस्यानारी है।

भारतवर्ष के इतिहास में जातीय उत्थान और पतन के वितर्न ही उदाहरा मिलते हैं। बहिक बुग में आयों का संबर्ष हुआ। आयों ने अना है के पराहित कर पंजाब का स्थायन किया। अनार्य जातिया द्वारीरिक रठन, मानिक इति धी नेतिक वर्त में आर्य-जाति से हीन थीं। इससे आयों का व्यवहार नीन प्रकार से है सकता था। पहला यह कि अनार्ज जाति को दितकृत उत्स्वृत का वेना। बार इच्छा से ही अथवा अनिच्छा से, अमेरिका और आस्ट्रेनिका में बोरोडीब जातियों इच्छा से ही अथवा अनिच्छा से, अमेरिका और आस्ट्रेनिका में बोरोडीब जातियों इं

इसी नीति का अनुसरण किया है। दूसरा ढंग है अन्तर्विवाह द्वारा इन दोनों जाति। को सिम्भिश्रण हो जाना। मुसलमानों ने विजित जातीयों ने ऐसा ही सम्बन्ध कि था। परन्तु इससे उनमें निकृष्ट जातियों के दोष आ गये और फल यह हुआ जिनका वंश निकृष्ट हो गया। तीसरा यह कि अपने ही समाज में उनको निम्नस्था देकर उनकी रत्ता करना। भारतीय आयों ने यही किया। आर्य और अनार्य जा में वर्णसंकरता का निवारण करने के लिए वर्णमेद की सृष्टि हुई।

पहले-पहल भारतीय आर्थों की एक ही जाति थी। क्रमशः समाज की उन्निति उसमें अम-विभाग हुआ। जो समाज का उत्कृष्ट अंश था वह ज्ञान-चर्चा और शासन कार्यों में निरत हुआ। अविशिष्ट लोग कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि में संलग्न हुए इस प्रकार आर्यों में तीन वर्णों की सृष्टि हुई, किन्तु उनमें ५रसर वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित था। क्रमशः वैश्यों से बाइमण और च्हियों का वैवाहिक सम्बन्ध कम हों लगा। परन्तु ब्राह्मणों और च्हियों में यह सम्बन्ध बना ही रहा। रामायण औ महाभारत में कितने ऐसे ऋषियों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने राज-कन्याओं का पाणिष्रहण किया था। उनकी सन्तान दर्श संकर जाति में नहीं गिनी जाती थी परन्तु शहूों और दिलों के सिम्प्रण से जो वर्श संकर जाति उत्पन्न होती थी वह है। सम्भी जाती थी। इसीलिए वर्श भेद बे सृष्टि कर कृत्रिम निर्वाचन के द्वारा ब्राह्मण वंश में परिडत, चृत्रिय-वंश में शोर्य ओर वर्य-वंश में कला-ने9्रय की रच्च की सहकर अव तक जीवित रह सकी है।
अव विचारणीय यह है कि हिन्द-जाति की शारीरिक और मानसिक शिक्तयों क

हास क्यों हुआ। प्राचीन काल में उसने वड़ी उन्नति की थी, उसकी शक्ति अप्रतिहत् थी, उसका वंभन अनुल था। उसने अपनी वंश-रत्ना की ओर भी ध्यान दिया फिर उसकी अवनति क्यों हुई १ वात यह है कि जो सभ्यता एकतामृलक नहीं है वा जाति-समस्या को दूर नहीं कर सकती। उसे केवल भेदों की वृद्धि होती जायगी यह सच है कि भारत ने प्राचीन काल में उस वृहत् सत्य का आविष्कार कर लिया थ

. जिससे सभी अनेक्यों में एकता हो जाय। यह भाव उसकी सम्यता के मृल में था

किन्त भारतीय सभ्यता का यह आदर्श जो एक्तामृलक था समाज में कभी प्रचलित नहीं हो सका । समाज के संरच्चरा के लिए वर्गा-व्यवस्था अवस्य अनुकृल थी । पर्न्तु उससे जाति-भेद की समस्या दूर नहीं हो सकती। संरच्यानीति आत्म-रचा के लिए उचित है. किन्तु हिन्दू-समाज को सदेव आत्म-रज्ञा की चिन्ता तो थी नहीं। जब त्र बाह्य संघर्ष है तर तक समाज में संरच्छा-नीति सफ्त हो सक्ती है। परन्तु बाह्य संघर्ष के दूर होते ही वही नीति सभाज को संदुचित कर देती है। अल्पसंख्यक आर्च-जाति ने बहुसंरुवक अनार्य जातियों पर अपनी उच शारीकि अंर मानसिक रिक्ति से जिजय प्राप्त कर ली। उसने एक बृहत् सन्य का आविष्कार कर उनकी अपनी जाति में सिम्पिलित तो कर लिया, परन्तु वर्शा-भेद बना ही रहा। फल यह हुआ कि आर्य-जाति के साथ अनार्य जातियों की भी संख्या-युद्धि होने से समाज में भेदों की संख्या बदती ही गई। आर्य-जाति उस बृहत् मन्य को तो भूल गई जिसमें सभी क्षेदों का सामंजस्य हो सकता है और वह भिन्नता ही पर जोर हमें लगी। अत एव भारत में संवर्ष सदव विद्यमान रहा। भिन्न-भिन्न दुनों में वितन ही महात्माओं ने जन्म लेकर इली जेद को दूर कर एकता स्थापित वर्ग की चंटा की। परन्तु यह एकता केशल आध्यामिक जरुत् में ही रही। अवहारिक कान् में उन महात्माओं की चेष्टा से नये-नये पन्थों और नई-नई जातियों की ही सप्टि हुई। मिख-भिन्न समाजों की सिष्ट से समाज की सीमा संशुचित होती गई और अल्पन्त संद्वित हो जाने के बारण समाज में श्रेष्ट शक्ति का पूर्ण दिवान नहा हुआ। कर्री राक्ति का अति। संचय होने ते। उसका अपन्यय होता था, तो वही उदीयमान रास्ति के निकास के लिए अनुदूरत अदस्था ही नहां थी। परिसाम यह ुआ कि जिस वर्षाय्यवस्था से हिन्दू-जाति जात्मरज्ञा कर सक्ष्मी थी, उसीने उनकी उर्दान की गिन अवरख हो गई। समाज के संवित्त होने का एक हुप्तरियाम है दिल निना। र्मिलाविता की बृद्धि तभी होती है। जब विकी जुद्द सीमा में। प्राक्ति का अनि लंबय ही काता है। पुराणों ने यह-बंग की पतन-क्या इसका बहा अच्छा उदारका है। महाराज पहु के भैठ वंश का भी पतन इसी शक्ति के अनि सबच से हुआ। दूसरी बात यह है कि ऐसे समाज पारस्वरिक किरोध पर अधिक ध्यान देने हैं। इसका फल

👺 सभुष् हुः आर पारस्यरिक संघर्ष के कारण शक्ति का सदैव अपन्थय होता है। इससे भी जाति की शक्ति चीण होती है। जाति के अशक्त होने पर उसमें वर्णसंकरता का रोष अवश्य आता है। यही कारण है कि महाभारत के युद्ध में अर्जुन ने अपनी जाति के भिंक्य के विषय में जो आशंका प्रकट की थी वह ठीक ही उतरी। प्राचीन भारतीय इतिहास में मोर्य अथवा गुप्तों का साम्राज्य अस्यायी ही रहा । इसका कारण समाज-भेद, दर्शासंत्ररता और त्रिलासिता-बृद्धि है। मध्ययुग में मुसलमानों के आगमन से भारत में एक समस्या और वढ़ गई। हिन्दू-जाति ने वर्णाव्यवस्था के कारण अपने अस्तिःत्र को अत्रश्य अनुरुण रक्ता। परन्तु उसमें एक जातीयता का भाव लप्त हो गया। धार्मिक-सम्प्रदायों और समाज-भेशें ने उसे दासत्व में ही रक्खा। इसी से उसने कभी जातीय भाव से प्रेरित हो उठने भी प्रयल चेष्टा नहीं की। इसका कारण यही हो सकता है कि उनमें एक-जातीयता का भाव था ही नहीं। राजपूत, मरहठे और सिक्खों ने अपनी-अपनी उन्नति के लिए स्वतन्त्र चेष्टाएँ की । उन्होंने उन्नति तो अवश्य की, परन्तु उनका अभ्युद्य च्राप-स्थायी ही रहा । इसका कारण है संवुचित सीमा में शक्ति का प्रसार । यह गोविन्द्र ने सिक्खों को एक जाति के रूप में परिसात कर अदम्य वना दिया। परन्तु उसी शिक्त से उनका पतन भी हुआ। मरहठों और राजपूतों की भी यही दशा हुई । संदर्ष वना ही रहा और उसमें शक्ति का अपव्यय होता रहा ।

भारत की यह जाति-समस्या अभी तक विद्यमान है। उसके विषय में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि भारत ने विधि-निषेध द्वारा भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्वरिक संघात को दूर करने की चेष्टा की है। परन्तु इस प्रकार का अभावात्मक आयोजन दीर्घकाल तक ठहर नहीं सकता। मानव-समाज यन्त्र की तरह परिचालित नहीं हो सकता। जिन जातियों का इतिहास स्वतन्त्र हे, जिनके सामाजिक और नैतिक आवारों में भिन्नता है उनका पारस्वरिक संघर्ष तभी वन्द्र हो सकता है जब एकता की भित्ति प्रेम-मूलक हो। भारतवर्ष में ऐसा भावात्मक, ऐक्य-मूलक आध्याभिक आदर्श है। सुन्न होने पर भी वह प्राख्यहीन नहीं हुआ है। उसमें यह शिक्ष है कि वह सभी वाह्य अनंक्यों को स्वीकार कर के भी अन्तर्गत एकता को

खता है। भारतवर्ष के ज्ञान के कारखाने में वह सोने की कुंजी तैयार है जो एक रेन सभी द्वारों को खोल देशी और चिरकाल से विच्छित्र जातियों को प्रेम के हानिमन्त्रए। में सम्मिलित करेगी।

रोम-साम्राज्य के अधःपतन होने पर भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं की शिक्त इ गई। सभी राजा अपने स्वार्थ-साधन की चेष्टा करने लगे। सभी अनी शिक्त दाना चाहते थे, पर यह कोई नहीं चाहता था कि किसी एक की शिक्त सबसे धिक हो जाय। इसलिए राजाओं में बल-साम्य का आदर्श निश्चित हुआ। सन्धि एक के शिक्त सबसे एवं के जाय। इसलिए राजाओं में बल-साम्य का आदर्श निश्चित हुआ। सन्धि एवं करें के लगे। इसी समय योरोप में नव-गर्थापित हुआ। मध्य-युग के बाद सर्वसाधारण में विद्या और विज्ञान का प्रचार में से जो जागृत हुई उससे समाज में राजनतिक जागृति भी हुई। समाज का जिनीति से और राजनीति का व्यवसाय से घनिष्ट सम्बन्ध हो गक्षा। पहले तो जा और प्रजानित कता के लिए विरोध हुआ। पर अन्त में राज्य पर जनतंत्र स्थापित हुआ और जनतंत्र के रूप में राष्ट्र का ही प्रभुत्व स्थापित हुआ। एक की प्रभुत्व स्थापित हुआ। स्थित सम्बनी हैं जो सबसे थित सम्बन्धिशाली हो।

न्यवसाय के च्रेत्र में छोटे-बड़े सभी राष्ट्र एक दूसरे के प्रति हुन्ही हैं। संनार के यवसाय को स्वायत्त वरने के लिए अभी तक कई महारुद्ध हो चुके हैं। आधुनिक गरोप का इतिहास एक व्यावसायिक रुद्ध से आरम्भ हुआ था। पहला योरोपीय महा-अमर का भी कारण यही प्रतियोगिता था। अपनी सकृद्धि के लिए अब एक राष्ट्र सरे राष्ट्र की सम्पत्ति हुड़प जाने में जरा भी संकोच नहीं वरता।

यह राष्ट्र है क्या ? क्या यह सजीव व्यक्तियों का समुदाय है अथवा निर्फ एक नेर्जीव विचार मात्र है जिसका अस्तित्व वेदल राजनीतिज्ञों के मस्तिप्क में है। जब ह कहा जाता है कि विस्ती देश की सम्पत्ति इतनी है तद अर्घशास्त्र के विद्वान अंक-िएत के द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि उक्त देश के प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति इतना है। परन्तु क्या राष्ट्र की सम्पत्ति पर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है ? क्या राष्ट्र की उन्नति वरने का अत्रसर मिलता है ? वात यह कि थोड़े ही योग्य मनुष्यों में राष्ट्र की शक्ति और सम्पत्ति विभक्त हो गई है। वर्त्त मान अशान्ति का सबसे बड़ा कारण यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिए ज़ेन चाहता है।

[3]

आज तक सार्वभंभ शान्ति स्थापित करने के लिए वहे-बहे उद्योग किये गये। परन्तु सब निष्फल हुए। स्वतंत्रता और समानता की खूत्र दुहाई दी गई। परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। हेग की शान्ति-परिषद् और लीग आफ नेशन्स के द्वारा -शान्ति स्थापित न हो सकी। कुछ बिद्वानों की यह सम्पत्ति थी कि व्यवसाय के कारण अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर इतना अवलिवत हो ग्या है कि एक की हानि से दूसरे की भी हानि है। एक बिद्वान् ने तो यहाँ तक कहा था कि संसार की वर्त्तमान व्यवसायिक स्थिति से युद्ध ही असम्भव है, युद्ध से विजेता को लाभ नहीं। तो भी युद्ध हुआ।

आज कितने ही देशों में जनतंत्र भी प्रतिष्ठा हो गई है। अन्य देशों में तो जनके लिए घोर युद्ध भी हुए हैं। हमारे देश में त्याग और तपस्या के आधार पर जनतंत्र की स्थापना हुई। जो क्सतु घोर परिश्रम या कप्र के वाद प्राप्त होती हैं जसका मृत्य भी उतना ही अधिक होता है। परन्तु यहि लोगों को यह अनुभन्न हुआ कि कठोर तपस्या के द्वारा उपलब्ध यह वस्तु भी अन मृत्यवान नहीं है तन उनमें एक निशेष असंतोष का भान जाग उटता है। जनतंत्र के सम्बन्ध में भी यह वात कही जा सकती है। प्राप्त की राज्यक्रांति के समय में हसो तथा उसी के समान अन्य निजों को जनतंत्र के सम्बन्ध में एक निशेष उत्साह था। साधारण लोग भी जनतंत्र की स्थापना में एक दिशेष उल्लास का अनुभन करते थे। उसने निजय का भी गीरन था। परन्तु अन उस उत्साह का अभान-सा हो गया है। उसका सुख्य कारण यह है कि जन तक वह स्थापित नहीं हुआ था तन तक उसके समर्थक उसके सम्बन्ध में वड़ी-नदी वातों किया करते थे। इसी से लोगों के हदय में वड़ी-नदी आशाएँ भी उत्तपन्न हो गई थीं। जनतंत्र की स्थापना के वाद यदाप लोगों को यथेष्ठ लाभ

हुए तो भी उनकी सभी समस्याएँ पूर्ण नहीं हुई। इससे उनके भीतर नराश्य का भाग आ जाना स्वाभाविक था। राजतंत्र के जो दोष थे वे तो जनतंत्र की स्थापना के बाद विरुप्त हो गये। परन्तु उन दोषों के अभाव में लोग जनतंत्र से अन्य जिन बड़ी वातों भी आशा कर रहे थे वे पूर्ण नहीं हुई । इससे जनतंत्र भी -सफलता को वे भूल गये। एक साधारण मनुष्य के भीतर जो मनुष्यत्व का सचा गौरत्र रहता है उसकी ओर वे दृष्टिपात नहीं कर सके। उसके स्थान में लोगों के हृदय में वीर-गूजा का भाव स्थान पाने लगा। वीर-गूजा में अवाधारण व्यक्ति के असाधारण गौरव का भाव विद्यमान रहता है। ऐसी वीर-पूजा का अन्तिम ·परिगाम यह होता है कि वह 'फ़ासिज्म' में परिवर्त्तित हो जाता है। उसमें न नो साधारण मनुष्य की महत्ता रह जाती है और न असाधारणों के लिए ही स्थान रह जाता है। उसमें संस्थाओं की महत्ता वढ़ जाती है। एक व्यक्ति अपने समाज से पृथक् अपना कोई महत्त्र नहीं रखता। समाज के भीतर जो शक्ति है उसी का एक अश होने के कारण व्यक्ति का अपना एक महत्त्व होता है और उपयोग भी, परन्तु वह किसी किशाल यंत्र का एक पुरजा सा हो जाता है। इस प्रकार राजनीति के ज़ेत्र में तीन विचारधारायें स्पष्ट रूप से लिच्नत होने लगती हैं। पहली दिचारधारा में एक व्यक्ति एक साधारण मनुष्य है। साधारण होने पर भी उसका अपना एक अधिकार है, अपना एक कर्नव्य है, अपना एक महन्त्र है। दूसरी विचारधारा में असाधारण जमता-सम्पन्न व्यक्ति प्रमुख हो जाता है। वहीं धीरे-धीरे समाज का ययार्थ नियंता होता है। उसी का अपना एक महत्त्र होना है। तीसरी विचारधारा में मनुष्य यंत्र का एक पुरजा मात्र हो जाना है। पहली विचारधारा से जनतंत्र होता है, दूसरी विचारधारा से पानितम जाता है धीर तीसरी से साम्यवाद । इसमें सन्देह नहीं कि मिल-मिल न्यितियों में दे तीनी वातें सभी व्यक्तियों के जीवन में लिजन होती हैं। जब मनदान का समय जाता है तब बढ़े से बहा साहित्यकार, कलाकार, या उद्योगपति मी नाबारण मनस्य की स्थिति में पहुंच जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त साधारण स्थिति भे रहकर भी केई व्यक्ति जब किसी हिरोप अवसर पर अपना आत्मन्यान प्रवट करना है तब उनके कारण उसकी असाधारणता स्पष्ट हो जाती है। वह भी एक वीर वन जाना है और

उनकें प्रति लोगों में वीर-पूजा का भाव आ जाता है। जब कोई व्यक्ति विसी ें सेंस्थ्रों में काम करता है तब वह उस संस्था का एक अंग मात्र वन जाता है। तव यह यंत्र के एक ुरजे की तरह ही काम करता है। विज्ञान के द्वारा जीवन का ज़ेत्र अन इतना अधिक त्रिस्तृत हो गया है कि उसमें अब सभी व्यक्तियों का स्थान म गीन के भिन्न-भिन्न पुजों की तरह निर्दिष्ट हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जो सबसे अच्छी सामाजिक व्यवस्था होगी उसमें इन तीनों विचारधाराओं का समावेश व्यक्तियों के जीवन में होना चाहिए। वीर का भाव अथवा असाधारण का गौरव किसी मनुष्य के जीवन में तभी प्रकट होता है जब उसे अपनी अन्तःस्फूर्ति को व्यक्त करने के लिए बराबर अवसर मिलता है। सभी के भीतर गौरव की एक कामना रहती है महत्त्व के लिए तीव आकांचा सभी को कर्मचेत्र में प्रेरणा देती है। अतएव वीर-पूजा का भाव राष्ट्र के विकास में वाधक नहीं हो सकता। उसी प्रकार चाहे कितना ही असाधारण व्यक्ति हो और उसमें विलक्त्या क्रमता हो पर एक साधारण मनुष्य के रूप में उसे भी पूर्ण सुरक्षा चाहिए, इसी प्रकार एक मशीन के पुरजे की तरह सभी मनुष्यों को कर्मचेत्र के भीतर अपनी उपयोगिता होनी चाहिए। इनमें से किसी एक बात की भी उपेचा नहीं की जा सकती। इन तीनों त्रिचारधाराओं में तीसरा सिद्धान्त सबसे अनिएकारक हो जाता है। बात यह है भि उसमें यंत्र साधन न होकर स्वयं साध्य वन जाता है। अलाउद्दीन के विराग की तरह मनुष्य भी यंत्र का दास वन जाता है। हम सब यंत्र की ही पूजा करने लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वैज्ञानिक साधनों ने समाज की एक ऐसी व्यवस्था निर्मित कर दी है कि हम सब सचमुच वल के पुरजों की तरह काम करते जा रहे हैं। विसी में असाधारण चमता हो या न हो, वह उस व्यवस्था के अन्तर्गत एक निर्दिष्ट स्थान में एक निर्दिष्ट कार्य ही करता है। इस स्थित की दूर करने के लिए व्यक्ति में अन्तःस्फूर्ति का भाग लाना ही चाहिए। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो जाता है कि सभी ज्ञमता-सम्पन्न व्यक्तियों के भीतर महत्त्व की वह आकांना होनी चाहिए जिससे वह समाज के भीतर अपना एक प्रभाव स्थापित कर सकता है। जनतंत्र में एक व्यक्ति केवल एक बोट दे सकता है। उस एक बोट के कारण वह शासन में अपना कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता। ऐसी स्थिति में सभी लोगों के भीतर अन्तः स्फूर्ति की अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न केत्रों में उन्हें अपनी महत्वाकां का पूर्ति के लिए अवसर वरावर प्राप्त होता रहे।

कला और साहित्य का अपना एक विशेष स्थान आधुनिक युग में है। यह कहा जा सकता है कि इन लेतों में व्यक्तियों को पूर्ण स्वाधीनता है। उनपर वैज्ञानिक साधनों का प्रभाव नहीं पड़ा है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तामान स्थिति में उनके लिए संकट नहीं है। रूस में कलाकार और साहित्यकार दोनों को अपने-अपने लेत्र में काम करने के लिए शासन से अधिकार प्राप्त करना पड़ता है। वौद्धिक शिक्यों को कोई व्यक्तित किती अन्य व्यक्ति से अपहृत नहीं कर सकता है। परन्तु अन्य आवश्यक वस्तुओं का तो वितरण होता ही रहता है। वौद्धिक विकास के लिए सकसे अधिक आवश्यक वात है अवसर प्रदान करना। यह देखा गया है कि अधिकांश प्रतिभा-स-पन्न व्यक्ति धनी होना भी नहीं चाहते और उन्हें सम्पत्ति से विशेष अनुराग भी नहीं रहता। साहित्य और कता में गुण के गौरव की परीत्ता करना वड़ा कठिन है। यह कितने ही लोग अपने जीवन-काल में उपे जित होकर मृत्यु के बाद अन्तय यश के पात्र हो गये हैं। इसके विपरीत जिन लोगों ने अपने जीवन-काल में गौरव अर्जित किया वे काल की गित के साथ अपनी सारी प्रतिग्रा खो बंठे। किर भी यह आवश्यक है कि समाज की ओर से सभी को अपनी प्रतिग्रा के विकास के लिए अवसर मिलना चाहिए।

यह दृद्धतापूर्वक कहा जा सकता है कि जहाँ सामाजिक मुव्यवस्था है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को उपयोगी होना चाहिए, उसे मुर जा मिलनी चाहिए और उसे ऐसे कामों में स्वतः संलग्न होने की प्रेरणा मिलनी चाहिए जो अन्य लोगों के लिए अनिष्टकर नहीं है। उपयोगिता का सम्बन्ध समाज से होता है। कोई कितना ही चड़ा कि व्यों न हो, और वह अपनी रचना को कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न सममता हो, परन्तु यदि समाज उसे समाजोपयोगी नहीं सममता है तो उस

किविकों भी किसी अन्य उपयोगी कार्य के द्वारा जीवन-निर्वाह करना होगा। सुरज्ञा े का मतलव यह है कि इद्धावस्था या रुग्णावस्था या काम के अभाव के कारण किसी व्यक्ति को कप्ट नहीं होना चाहिए। समाज को यह अधिकार है कि वह सबसे काम ले। परन्तु उसका यह भी कर्ताच्य है कि वह सब लोगों की जीवन-रज्ञा की व्यवस्था करे। जो काम हम करना चाहते हैं, परन्तु परिस्थिति के कारण जो काम नहीं कर पाते, उनके जीवन-निर्वाह का भार समाज पर है। समानवाद में इन दोनों के लिए व्यवस्था अवस्य है। परन्तु अन्तःस्फूर्ति के लिए अवसर प्रदान करना जरा कठिन अवश्य है। फिर भी जिनमें हिंसा के लिए स्थान नहीं है ऐसे कार्यों में सबको लमान रूप से अदसर प्राप्त होना ही चाहिए। हम भले ही समाजवाद या अन्य किसी वाद के समर्थक या विरोधी हों, हमें इतनी स्वाधीनता. अवश्य होनी चाहिए जिससे हम अपने विचारों का अचार कर सकें। साहित्यकारों और कलाकारों को भी अपने अवकाश-काल में अपनी सहज इच्छा के अनुसार रचना रचना करने की स्वाधीनता चाहिये। इन पर नियन्त्रण होने से मनुष्यों में वादिक पराधीनता के साथ-साथ आध्यात्मिक दासत्व भी आ जाता है। इसलिए भाव, कर्मा र्झ.र ज्ञान. तीनों चेत्रों में एक विशेष स्वाधीनता की आवश्यकता है। उन तीनों. के समन्त्रय से राष्ट्र और व्यक्ति, दोनों का सच्चा विकास होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक विज्ञान ने युद्ध का रूप विलक्कल बदल दिया है। युद्ध में अब सफलता सेना की वीरता पर निर्भर नहीं है, परन्तु उन बड़े-बड़े कारखानों पर है जहाँ आधुनिक अस्त्र-शस्त्र बनाये जाते हैं। गत महायुद्ध में जापानियों से बढ़कर बीरता किसी भी राष्ट्र ने प्रदर्शित नहीं की। पर वे लोग अमेरिका की उत्पादन-इशलता के कारण हार गये। आधुनिक अस्त्रों के कारण अब जीवन का अधिक विनाश होता है। अस्त्रों की संहारकारिणी शक्ति विशेष रूप से बढ़ गई है। पर युद्ध के बाद उसका जो प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता है वह भी अधिक अनिएकर है। एटम वम और हाइड्रोजन बम के कारण युद्ध में निरत सनिकों का ही विनाश नहीं होगा, उनके कारण पृथ्वी पर समस्त जीवन ही: विद्युप्त हो सकता है। ऐसी स्थित में हमलोगों को अपने विचार, भाव और

आचररा—तीनों में समुचित परिश्तन करना होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि अन्तराष्ट्रीय शिक्त के द्वारा जो भी व्यवस्था निर्मित कर दी जाय उसे स्त्रीकार कर लेना सभी राष्ट्रों के लिए हितकर है।

मानद-जीवन में कभी कामना का अन्त नहीं होता। सभी लोगों में सभी तरह की इच्छाएँ होती हैं। लाधारणतया सभी मनुज्यों के मन में सुख की लालसा है। तौंदर्य-बोध हे चिन्तन का आनन्द है और उन्हीं के साथ उनमें प्रेम है और हिंक की भी कामना है। इनमें से के. हैं भी कामना किसी के भी जीवन में मुख्य हो जातीं है। पर अन्य कामनाएँ भी वनी रहती हैं। विज्ञान ने कितने ही मुखों की वृद्धि की है। पर उसने कितने ही अनिष्टों को भी बढ़ाया है। उसके काररा युद्ध और अत्याचार दोनों की र्याद्ध संभन है। फिर भी यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् शंकर की तरह यदि विज्ञान संहारकर्ता के रूप में है तो कल्याराकर्ता के रूप में वह शिव भी है। विज्ञान के द्वारा दरिद्वता समूल नह हो सकती है और कम-से-क्रम परिश्रम के द्वारा अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जा सकता है। किर भी यह देखा गया है कि कृषि की वैज्ञानिक री ते से साधारण मनुन्यों को उतना लाभ नहीं हुआ जितना एक विशेष वर्ग को । वज्ञानिक रीति से विकित्सा-शास्त्र की उन्नति हो जाने से अब मृत्यु की संख्या घट रई है। मनुष्यों की रोग-यातनाएँ भी अब कम हो गई हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी लोगों को सभी देशों में चिकि सा-शास्त्र की उन्नत प्रणाली से समान रूप से लाभ उठाने के अवसर प्राप्त हुए हैं। सुखों के साधनों की वृद्धि अवस्य हुई है, परन्तु सभी लोगों को वे अभी मुलभ नहीं हैं। किसी भी मत को स्वीकार कर उसका दढ़ अनुयायी होने का अर्थ यह हो जाता है कि हममें मतान्थता आ जाती है। मन्ययुग में यदि धर्मान्यता थी तो वर्तमान युग में भी मतान्यता है। हमें सत्य दी सतन परीचा करनी चाहिए और जो यथार्थ स्थिति है, उसकी ओर कभी उपैजा नहीं करनी चाहिए। इससे नैराश्य का भाव आ जाता है। उसी से अकर्मग्यता होती है। हमारे बुग में तीन वातों की सबसे बड़ी आवश्यकता है— एक सहानुभूति जिसमें यह इच्छा प्रत्रल रहती है कि मनुन्य मात्र सुखी हो। दूसरी ज्ञान के लिए सची स्पृद्दा का होना और तीसरे नव-निर्माण के लिए साहस, आशा और स्फूर्ति। जब तक राष्ट्रों के भीतर संशय और भय है, तब तक उनमें शिक्त के लिए कामना होगी और घृणा तथा असिह गुता का भाव भी प्रवल रहेगा। भारतीय धर्मशास्त्रों में जिसने प्रेमभाव की मिहमा गाई है वही विश्व की समस्या का समाधान कर सकता है। वही यथार्थ में हमारे जीवन का ध्येय है। वही हमें न्याय के पथ पर ले जा सकता है। विज्ञान की शिक्त के द्वारा संलार का जितना हित हो सकता है उतना ही अहित भी हो सकता है। इस ध्येय को जीवन में चिरतार्थ करने के लिए उच्च बाँदिक विकास न होने से एक मात्र विज्ञान की खिद्द अनिष्टकारिशी होती जाती है।





.

